साहित्य और जीवन

•

बनारसीदास चतुर्वेदी

साहित्य और जीवन

[साहित्य के आदर्श और अभ्युत्थान-संबंधी लेख]

बनारसीदास चतुर्वेदी

●

१९५४

सस्ता साहित्य मण्डल - प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५४

मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

हमें हर्ष है कि हिन्दी के सजीव एवं प्रभावशाली पत्रकार और साहित्य-सेवी श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी की यह पुस्तक 'मण्डल' से प्रकाशित हो रही है। चतुर्वेदीजी उन इने-गिने साहित्यकारों में से हैं, जो साहित्य के संवर्द्धन के लिए निरन्तर चिन्तन और प्रयत्न करते रहते हैं। इतना ही नहीं, अनेक उदीयमान लेखकों को उनके द्वारा प्रोत्साहन भी मिलता रहता है।

इस पुस्तक में विद्वान लेखक की उन रचनाओं का संग्रह किया गया है, जो साहित्य और साहित्यकारों के आदर्शों की ओर निर्देश करती हैं। उन्होंने एक बात पर बड़ा ज़ोर दिया है; वह यह कि जिस साहित्य का जीवन से, मानव के सुख-दुःख से, सम्बन्ध नहीं है और जिसके पीछे मनुष्य का स्पन्दनशील हृदय नहीं है, वह साहित्य कदापि स्थायी नहीं हो सकता।

स्वतन्त्र भारत के आगे अब मुख्य प्रश्न नव-निर्माण का है और इस कार्य में स्वाधीनचेता साहित्यकार काफ़ी मदद दे सकते हैं। उन्हें किस तरह साहित्य-जगत् को संगठित करना है, किस प्रकार के साहित्य का सृजन करना है, साहित्य का अभ्युत्थान किस प्रकार हो सकता है और साहित्य-कार में किन गुणों का होना आवश्यक है, आदि-आदि बातों पर इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री ह।

आशा है, साहित्यिकों के लिए यह पुस्तक विचारोतेजक तथा विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी।

—मंत्री

दो शब्द

'साहित्य और जीवन' विविध समयों पर लिखे गये लेखों का संग्रह है, जिनका संकलन और सम्पादन मेरे दाहिने हाथ बन्धुवर यशपाल-जी ने कर दिया है। इस संग्रह के एक लेख 'कस्मै देवाय' ने तो उन दिनों एक छोटा-सा आन्दोलन ही खड़ा कर दिया था। उसे पढ़कर आचार्य श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अपने ९-४-३४ के कृपा-पत्र में लिखा था :

"लेख क्या है, बम का गोला है। उसके प्रथमांश से बहुत से लोग नाराज होंगे, पर बातें हैं सच्ची। मैं आपके विचारों से सर्वथा सहमत हूं। परन्तु मुझे अपनी तारीफ सुनकर बहुत संकोच हुआ। अरे भाई, मैं उस तारीफ़ का मुस्तहक़ नहीं।"

एक साम्यवादी मित्र ने बतलाया था कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के एक वर्ष पूर्व वह लेख प्रकाशित हुआ था। कविवर दिनकरजी ने उसे अपनी कविता का विषय ही बना कर उसे गौरव प्रदान किया था।

उसी प्रकार 'साहित्य और जीवन' नामक लेख की भी काफी चर्चा रही थी। यद्यपि ये लेख मेरे पिछले बीस-पच्चीस वर्षों की साहित्यिक रचनाओं में से चुने गये हैं और वसन्तोत्सव विषयक लेख तो पच्चीस वर्ष पुराना है, तथापि यह विश्वास है कि उनमें पाठकों को आज भी कुछ विचार-सामग्री मिलेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी जगत में अभी भी गतिरोध विद्यमान है और तत्कालीन प्रश्न और भी उत्कट रूप में हमारे सामने उपस्थित हो गये हैं।

हां, इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि पिछले कुछ वर्षों की अनुभूतियों ने मेरे साहित्यिक दृष्टिकोण में कुछ अन्तर अवश्य ला दिया

है । 'भावी युग और लेखक' में उसका कुछ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा ।

जो लेख बिजली के सजीव तार की तरह हृदय को धक्का न दे सके अथवा जिससे पाठकों को कुछ भी प्रेरणा न मिले उसे मैं असफल ही मानता हूं । निरुद्देश्य लेखों से तो कागज़, स्याही और समय का अपव्यय ही होता है । इस कसौटी पर यह लेख-संग्रह ठीक उतरता है या नहीं, इसका फैसला समझदार पाठक तथा विज्ञ समालोचक ही करगे ।

१२३, नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
४-२-५४

—बनारसीदास चतुर्वेदी

विषय-सूची

: १ :

साहित्य और जीवन

कुछ वर्ष पहले की बात है। उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध नगर में प्लेग फैलने की आशंका थी। चूहे मर रहे थे। दैवदुर्विपाक से इन्हीं दिनों यहां के साहित्य-रसिकों के हृदय-सरोवर में काव्य-प्रेम की अदम्य मौज या लहर आई हुई थी। जगह-जगह कवि-सम्मेलन हो रहे थे। कुछ सज्जन हमारे पास भी पधारे और बोले, "आप भी अजीब आदमी हैं। इस नगर में रहते हुए भी आप स्थानीय कवि-सम्मेलनों में भाग नहीं लेते। मालूम होता है कि आपमें साहित्य-प्रेम का बिलकुल ह्रास हो गया है। लोग आपकी बेहद निन्दा कर रहे हैं।"

मैंने उस समय उन काव्य-प्रेमियों की सेवा में यही निवेदन किया, "लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं, इसकी मुझे चिंता नहीं। पर मैं, अगर गुस्ताखी माफ हो तो, एक सवाल आपसे पूछता हूँ, 'जनाब, यह तो फरमाइये कि जब शहर में चूहे मर रहे हों, उस वक्त क्या मुनासिब है--कवि-सम्मेलन करना या चूहे पकड़ना ?' '

आगन्तुक महानुभाव हंसने लगे और उनमें से एक बोले--"तो क्या आप कवियों से चूहे पकड़वायेंगे ?"

मैंने कहा, "इसमें हर्ज ही क्या है ? कवित्व क्या जीवन से और मनुष्यत्व से भी अधिक ऊंची चीज है ? अपने घर, मुहल्ले अथवा नगर के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए अगर हम साहित्य-सेवियों को पाखाने भी साफ़ करने पड़ें, मोरियां भी धोनी पड़ें, तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए। चूहे पकड़ना तो एक मामूली-सी बात है। मैं तो गद्य-लेखक हूँ। यदि कवि लोग अपना दर्जा कुछ ऊँचा समझते हैं तो हम गद्य-लेखक पैसा चूहा ले लेंगे, कवियों को दो पैसे चूहे का हिसाब पड़ जायगा। आप और

क्या चाहते हैं ?"

मामला हंसी में उड़ गया और मैं भी कवि-सम्मेलन और प्लेग तथा कवि और चूहों के किस्से को भूल गया। पर तीन-चार महीने बाद फिर वही प्रश्न बड़े विकट रूप में सामने आ गया।

एक सौ साढ़े चार डिग्री का बुखार चढ़ा हुआ था। सिर पर बर्फ रखी जा रही थी। यह घटना हमारे जन्म-स्थान फीरोजाबाद की है, जो चूड़ियों के लिए हिन्दुस्तान-भर में प्रसिद्ध है और जो दरअसल दुहेरी कीर्ति का अधिकारी है—यानी सुन्दर चूड़ियों के लिए और गन्दी नालियों के लिए भी। हां, तो मैं बुखार में पड़ा बड़बड़ा रहा था और जब टेम्परेचर अधिक होता है तब कल्पनाशक्ति और भी तीव्र हो जाती है। मैं सोच रहा था कि यह मलेरिया-बुखार है, मलेरिया मच्छरों से पैदा होता है और मच्छर पैदा करने के कारखाने हमारे आसपास पड़ौस में ही बहुत-से खुले हुए हैं। हमारे चौबे-मुहल्ले में ही, जिसकी जन-संख्या जच्चा-बच्चा-सहित कुल जमा २००–२२५ होगी, कई डाक्टर उत्पन्न हो चुके हैं, और वे ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर पहुँच चुके हैं तथा विद्यमान हैं, पर मुहल्ले की गन्दगी ज्यों-की-त्यों बनी है और हमारे घर से सौ गज की दूरी पर हमारे एक भूतपूर्व सहपाठी के एक सुपुत्र रहते हैं, जिन्होंने अपनी अनुभवहीनता के कारण 'साहित्य-कलरव' नामक मासिक पत्र के ५-७ अंकों में चार सौ रुपये घाटे के दे दिये हैं। ये रुपये मोरी में गये। मैं सोचता था—वर्तमान परिस्थिति में मोरियों के मच्छरों को मारना अधिक लाभदायक ह या 'साहित्य-कलरव' निकालना ?

इस गम्भीर प्रश्न पर मैंने बहुत देर तक विचार किया और मेरे साहित्य-सेवी मित्र मुझे क्षमा करें, यदि मैं उन्हें बतलाऊं कि मेरा फैसला 'साहित्य-कलरव' के खिलाफ रहा। इसके बाद मुझे तीन बार मलेरिया बुखार चार महीनों में आया, और हर बार मैं इस विषय पर विचार करता रहा हूं कि आखिर हमारी साहित्य-सेवा का जीवन से कुछ सम्बन्ध भी है ?

मैंने पत्रों में भारत-सरकार की रिपोर्ट पढ़ी थी कि भारतवर्ष में

९० लाख आदमी मलेरिया से बीमार पड़ते हैं और १३-१४ लाख इसीके कारण काल-कवलित हो जाते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि हम निरर्थक कवि-सम्मेलनों को बन्द करके साधारण जनता में कुनैन बांटें।

ऊपर की बात हमारे कवि-बन्धुओं को—खास तौर पर दंगली कवियों को—भले ही कुनैन की तरह कड़वी लगे; पर अब वक्त आ गया है, जब मीठी-मीठी बातें कहने के बजाय स्पष्टवादिता से काम लिया जाय। हम लोगों को—लेखकों और कवियों को—कीर्त्ति का नशा रहता है और इस नशे का मुझे भी कुछ तजुर्बा है। पत्रों में लेख छपते हैं, अपना नाम छापे में छपा देखकर बड़ी खुशी होती है, और लेख लिखे जाते हैं, फिर छपते हैं और इस प्रकार लेखकों को प्रसिद्धि मिल जाती है। यह कोई नहीं पूछता कि वास्तविक जीवन से उन लेखकों का कुछ सम्बन्ध भी है ? जून सन १९१२ में मेरा प्रथम लेख काशी के 'नवजीवन' में छपा था और उसका नाम था 'स्वावलम्बन'। यह अंग्रेजी पुस्तक 'सेल्फ हेल्प' (Self-help) के आधार पर लिखा गया था। यदि लेखक के अनुसार मैंने अपना जीवन-क्रम बनाया होता तो आज मैं अवश्य ही स्वावलम्बी होता। पर हम लेखक लोग, बकौल बाबा तुलसीदास के "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" हैं। अट्ठाईस वर्ष तक खुराफात लिखने के बाद भी जीवन-संबंधी मेरा व्यावहारिक ज्ञान बहुत ही कम बढ़ा और ऐन मौके पर आकर परीक्षा में मैं बिलकुल फेल हो गया।

पूज्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के यहां जब मैं तीसरी बार दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा करने गया था, तबतक ग्राम-संगठन पर अपने पत्र में अनेक लेख छाप चुका था। द्विवेदीजी मुझे अपने बाग की ओर ले गये। मार्ग में उन्होंने कुछ प्रश्न किये; पर चौबेजी उनके विषय में कोरमकोर थे। कई वृक्षों के नाम उन्होंने पूछे; पर मैं उन्हें पहचान भी न सका—न रीठे का पेड़ पहचान सका और न महुए का। बातचीत के सिलसिले में द्विवेदीजी ने पूछा, "अपने आगरा जिले को भलीभांति जानते हो ? अपने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट पढ़ी है ?"

मैं चुप था। क्या जवाब देता ? फिजी, केनिया, जंजीबार, युगाण्डा, टांगानिका इत्यादि के चक्कर में जिन्दगी के बीस वर्ष बरबाद कर चुका था; पर न तो आगरे जिले का कभी भ्रमण किया था और न कभी आगरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट ही पढ़ी थी। कभी क्यों, आजतक नहीं पढ़ी।

पूज्य द्विवेदीजी झुंझला कर बोले, "आखिर बैठे-बैठे क्या किया करते हो ? कुछ पढ़ते-लिखते भी हो ? न तुमने काश्तकारी कानून का अध्ययन किया है, न ग्रामीण पंचायतों के बारे में कुछ जानते हो। खेती और किसानों के रहन-सहन के बारे में तुम्हारा ज्ञान होगा ही क्या ? सम्पादक योंही बन बैठे हो !"

बड़ी शर्म आई। हिंदी-पत्रकारों का इन विषयों पर कितना ज्ञान है, यह मैं कह नहीं सकता। लेकिन अगर कहीं हिन्दी-पत्रकारों के लिए कोई विद्यालय खुले तो छात्र के रूप में उसमें भर्ती होने की इच्छा जरूर है।

हिन्दी-जगत् में इस समय इन दो विद्यालयों की सख्त जरूरत है। नये-नये कालेज हमारे यहां खुलते जाते हैं और उनमें वे ही पुराने विषय पढ़ाये जाते हैं—ऐसे विषय, जिनका विद्यार्थी के भावी जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। पत्रकार प्रौढ़ों के शिक्षक हैं, जनमत को बनाना-बिगाड़ना उनके हाथ में है और उनके द्वारा समाज की बड़ी भारी सेवा हो सकती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रयाग, काशी, दिल्ली, पटना, आगरा और नागपुर विश्वविद्यालयों द्वारा इन विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध किया जाय। बम्बई के 'टाटा-समाज-विज्ञान-विद्यालय' की तरह की संस्था उत्तर-भारत में भी होनी चाहिए। जो ग्रन्थ वहां अंग्रेजी में पढ़ाये जाते हैं, उनका हिंदी में अनुवाद कराना चाहिए अथवा वैसे ही मौलिक ग्रंथ लिखाये जाने चाहिए। दूरदर्शिता के खयाल से यह काम अत्यन्त आवश्यक है। अब जब कि भारत स्वाधीन हो गया है, स्थानीय प्रश्नों का महत्व अखिल भारतीय प्रश्नों के समान ही हो गया है। हमें देश के कोने-कोने में छोटे-बड़े नगरों तथा ग्रामों में समाज-सेवा के अनेक रचनात्मक कार्य प्रारंभ करने चाहिए। उन कार्यों के लिए कार्यकर्ताओं को विशेष ट्रेनिंग देने की जरूरत है।

उपर्युक्त प्रश्न पर तथा अन्य ऐसे ही सवालों पर विचार करने के लिए उन लेखकों का, जिनकी रुचि मुख्यतया समाज-सेवा की ओर है, मिलना जरूरी है। यह काम कोई परोपकार का नहीं, बल्कि स्वार्थ का है। हम लोग अपने आसपास के मानव-जगत् से ही नहीं, पशु-पक्षी और वृक्ष-जगत् से भी बहुत कम परिचित हैं। बड़ी बेशर्मी के साथ मैं आपके सामने अपने अज्ञान का एक उदाहरण और पेश करूंगा। ओरछा-राज्य के रेवेन्यू-कमिश्नर के आंगन में उगे एक पौधे को देखकर मैंने एक बार पूछा, "ठाकुर साहब, यह क्या वृक्ष है ?"

वे हंसकर बोले, "चौबेजी, आप आलू भी नहीं पहचानते ?"

चौबेजी चालीस-पैंतालीस वर्ष से आलू खाते आ रहे थे; पर आलू का पौधा जिन्दगी में पहली ही बार देखा था। बाद में आलुओं की खेती पर इक्कीस रुपये व्यय करके कुल जमा एक रुपये पांच आने के आलू हमने उगाये थे और इस प्रकार नकद, १९ रुपया ११ आने का मुनाफा उल्टी दिशा में उठाया था।

पक्षियों से परिचय की बात लीजिए : कौआ, तोता, मोर, खुटक-मढ़ैया, पिड़कुलिया, गलगलिया, चील, मैना, कोयल, उल्लू इत्यादि पन्द्रह-बीस पक्षियों को छोड़कर और किसी को मैं नहीं पहचानता और सो भी इनकी शकल से परिचित हूं। इनके स्वभाव, रहन-सहन इत्यादि के विषय में मेरा ज्ञान अत्यल्प है। चिड़ियों के प्रवास के बारे में मैंने पत्रों में पढ़ रखा था; पर प्रवासी चिड़ियों को मैंने तबतक पहचाना ही नहीं था, जबतक कि ओरछा-राज्य के सुन्दर सरोवरों पर उनके झुंड-के-झुंड उतरते हुए नहीं देखे। इनमें से सहस्रों साइबेरिया से उड़कर भारतवर्ष को आती हैं और फिर वहीं वापस लौट जाती हैं। चिड़ियों के विषय में कोई भी उत्तम पुस्तक हमारी भाषा में नहीं है। बुलबुल भी मैंने बहुत वर्षों बाद देखी और चंडूल को आजतक नहीं देखा ! मैं चंडूल को कोई बहुत ही भद्दा-भोंड़ा पक्षी समझे हुए था। पर झांसी के एक मित्र ने मुझे बतलाया कि एक-एक चंडूल की कीमत सात-सात सौ, आठ-आठ सौ रुपये होती है।

"बाद मुद्दत के फंसा है ये पुराना चण्डूल"—इस पद्य को पढ़कर मैंने अपन हृदय में चण्डूल के प्रति जो भ्रमात्मक धारणा स्थापित कर ली थी, वह मुझे सहर्ष दूर कर देनी पड़ी।

और अब तो मैंने 'बुलबुल का आशियाना' भी देख लिया है। पर एक बेवकूफ़ी मैंने की। बुलबुल के घोंसले को मैंने कौतूहलवश बहुत नजदीक से देखा और कई बार देखा। इस कारण उस लज्जाशील भयभीत बुलबुल न वह आशियाना छोड़ ही दिया! तब मैंने उस पद्य का मतलब समझा—"बुलबुल ने आशियाना चमन से उठा लिया।" बाद में पपीहा को भी मैंने देख लिया है।

चिड़ियों के स्वभाव का अध्ययन करना और उनके विषय में ग्रंथ लिखना कोई आसान काम नहीं है। यह कोई महात्माजी का जीवन-चरित नहीं है, जो कि इधर-उधर से कटिंग लेकर दस-बारह दिन में तैयार कर दिया जाय। एक-एक चिड़िया के लिए लेखक अपना जीवन खपा सकता है; पर हम लोग तो 'काता और ले दौड़े' के सिद्धांत के अनुयायी हैं। पुरानी लकीरों पर चलने में ही हमें आनन्द आता है। शायर-सूर-सपूतों की तरह हिंदी-लेखक बिना लीक चलना कब सीखेंगे?

पशुओं के विषय में भी हमारा ज्ञान बहुत कम है। नर-पशुओं की बात जाने दीजिए, उन्हें तो हम थोड़ा-बहुत जानते भी हैं और वे भेड़ियों की तरह हर मुल्क और मिल्लत में पाये जाते हैं। मट्ठे बैल का मुहावरा मैंने बहुत सुन रखा था; पर उनके दर्शन किये कुल साल भर ही हुआ है। अपने बगीचे के लिए सत्तर रुपये खर्च करके एक जोड़ी बैल मऊरानीपुर से मंगाये। जब वे पधारे तो भावुकतावश मैंने उनकी खूब आवभगत की। हमारे एक किसान-बन्धु ने कहा, "ये दूर से चलकर आये हैं, इसलिए थकावट दूर करने के लिए इन्हें ठर्रा शराब मिलनी चाहिए।" अच्छा साहब, महुए की बनी हुई दो बोतल शराब के लिए बारह आने पैसे भी दिये गए। दो-तीन दिन उन्हें खूब आराम (जिसे साहित्य की भाषा में 'पूर्ण विश्राम' कहना चाहिए) करने दिया, फिर अपने आदमियों से कहा कि इनसे काम लो। यह देखकर मुझे

बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों-के-दोनों बैल मेरी ही तरह आरामतलब निकले। लेट गये और उठने का नाम ही नहीं लेते ! पूंछ मरोड़ी गई, कुछ ठुकाविद्या भी हुई, अनेक उपाय किये गए; पर वे तो अपने सिद्धांत के पक्के-घोर सत्याग्रही थे। तब लोगों ने मुझे समझाया, मट्ठे बैल इन्हीं को कहते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि यह शिक्षा मुझे बहुत महंगी पड़ी। बड़ी मुश्किल से वे बदले गये और मेरी गांठ के २० रुपये खर्च करा के और मुझे बछिया का ताऊ सिद्ध करके वे चले गये। फिर भी चाय की भैंस के मुकाबले में यह सबक सस्ता रहा। नकद बयालीस रुपये में मैंने एक भैंस खरीदी जो बस चाय बनाने लायक दूध देती थी !

कहीं श्रोताओं को यह भ्रम न हो जाय कि मैं ही हिन्दी-जगत् का 'मूर्ख-शिरोमणि' हूं। यह बात बतला देना जरूरी समझता हूं कि हमारे साहित्य-संसार में कितने ही ऐसे व्यक्ति होंगे, जो आसपास के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा मानव-जगत् के विषय में मुझसे भी अधिक 'लाल-बुझक्कड़' हैं। हम लोग तो किसी प्रकार क्षमा भी किये जा सकते हैं; पर कितने ही लेखक ऐसे हैं, जिन्हें 'जरायमपेशा' कहना चाहिए।

सरकारी शराब-बन्दी तथा मादक-द्रव्य-निषेध सभाओं के तमाम व्याख्यानों के बावजूद हिंदी के ९५ फीसदी प्रकाशक भांग, गांजा या अफीम का अमल करते हैं या चरस की दम लगाते हैं। यह मेरा अटल विश्वास है। आप उनके यहां से प्रकाशित ग्रंथों की सूची देख जाइये तो आपको फ़ौरन पता लग जायगा कि इन प्रकाशकों को समय की गति का कुछ भी खयाल नहीं है, जीवन के प्रश्नों से उनका कुछ भी परिचय नहीं है और उनमें से अधिकांश अपने को सर्वज्ञ समझे बैठे हैं। विलायत के अच्छे-अच्छे प्रकाशक अपने यहां भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ रखते हैं, जिनकी सम्मति से वे ग्रन्थ लेते और छपाते हैं; पर हमारे यहां के प्रकाशक मुफ्त में भी विशेषज्ञों की सम्मति नहीं लेना चाहते। यदि प्रकाशकों में कुछ भी बुद्धि होती, तो वे स्वयं आपस में मिलकर इस बात की जांच के लिए एक कमेटी मुकर्रर करते कि साधारण जनता अथवा विशेष वर्गों के लिए किस-किस

प्रकार के साहित्य की जरूरत है।

श्रोता लोग पूछ सकते हैं, "आप कवियों से चूहे पकड़वाना चाहते हैं, 'साहित्य-कलरव' बन्द करा के मोरी के मच्छरों पर धावा बोलना चाहते हैं, आखिर आप चाहते क्या हैं ? क्या कला और सौंदर्य के प्रति आपके हृदय में कुछ भी प्रेम नहीं है ?" ऐसे प्रश्न-कर्ताओं की सेवा में मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूं कि मैं कला तथा सौंदर्य का उतना ही प्रेमी हूं, जितना कि एक मामूली लेखक को होना चाहिए; पर हर चीज का एक वक्त होता है और युगधर्म के अनुसार कला और सौंदर्य का उपयोग विशेष उद्देश्यों को लेकर होना चाहिए। यदि आपके नगर के शौचालय अत्यन्त गन्दे हैं और उनसे हर साल हैजा फैलता है, तो आपके यहां की साहित्य-समिति पर जितना रुपया व्यय होता है, उसमें से कुछ अंश इस गन्दगी को दूर करने के लिए खर्च होना चाहिए। आखिर वह हमारे हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी अस्वच्छता है, जो प्रकट रूप में हमारी गन्दी गलियों तथा सड़कों के रूप में सामने आती है। सुप्रसिद्ध नीग्रो लीडर बुकर टी. वाशिंगटन ने कहा था, "किसी जाति की सभ्यता या असभ्यता का अन्दाज उसके पाखानों की सफाई या गन्दगी को देखकर लगाया जा सकता है।"

आयरलैंड के सुप्रसिद्ध कवि तथा कलाकार जार्ज रसेल (ए. ई.) ने अपनी पुस्तक 'नेशनल बीइंग' (राष्ट्र की आत्मा) में एक बड़े मार्के की बात लिखी थी, "सभी व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है, यह उनकी जिम्मेदारी है कि वे अपने अन्तर में जिस सौंदर्य की कल्पना करते हैं, तदनुसार यथासंभव अपनी बाह्य परिस्थिति को भी बनायें। सौंदर्य-प्रेमी आदमी कभी ऐसे घर में रहना पसन्द नहीं करेगा, जहां सब चीजें विकृत रुचि की परिचायक हों। बुद्धि-प्रधान मनुष्य अव्यवस्थित समाज से घृणा ही करेगा। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि बाह्य परिस्थितियों से मनुष्यों के आन्तरिक जीवन का पता लग सकता है। आयरलैंड के वे गन्दे ग्राम तथा छोटे नगर, जहां शराब की दूकानों की भरमार है, जहां स्वच्छता तथा सुन्दरता की सर्वथा उपेक्षा की जाती है, दरअसल उनके निवासियों के चरित्र के अनुरूप ही हैं, उनके गन्दे

रहन-सहन के प्रतीक हैं। जब इन निवासियों में बौद्धिक जीवन का विकास होगा, तब ये चीजें बदलेंगी; लेकिन इसके पूर्व भी उनमें आध्यात्मिक भावना का प्रवेश होना चाहिए। ज्यों-ज्यों व्यक्तियों के चरित्रों में परिवर्तन आता जाता है, त्यों-त्यों घर-घर और ग्राम-ग्राम में संस्कृति तथा सभ्यता का रूप भी बदलता जाता है। जब हम राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण करना प्रारंभ कर देते हैं तब हमारे देश का बाह्य रूप भी सुन्दर तथा सम्मानयोग्य बन जाता है। कोरमकोर कर्मशील पुरुषों की अपेक्षा हमें इस समय ऐसे विद्वानों की—अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, विचारकों, शिक्षा-विशेषज्ञों तथा साहित्य-सेवियों की—अधिक आवश्यकता है, जो जातीय ज्ञान के क्षेत्र को, जो इस समय गंभीर रेगिस्तान के समान है, विचारों की धारा से सींच कर उर्वर बना दें।"

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी युग-धर्म के तकाजे को अपनी पुस्तिका 'नगर और ग्राम' (City and Village) में बड़ी ख़ूबी के साथ बतलाया है। उन्होंने लिखा है—

"हमारा उद्देश्य यह है कि ग्राम-जीवन की नदी की तह में, जो झाड़-झंखाड़ों और कूड़े-करकट से भर गई है, और जिसमें प्रवाह नहीं रहा, आनन्द की लहर की बाढ़ ला दें। इस कार्य के लिए विद्वानों, कवियों, गायकों तथा कलाकारों के सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है। ये सब मिलकर अपनी-अपनी भेंट (शुष्क ग्राम-जीवन को सरस बनाने के लिए) लायंगे। यदि ये लोग ऐसा नहीं करते तो समझना चाहिए कि ये जोंक की तरह हैं, जो ग्रामवासियों का जीवन-रस चूस रहे हैं और उसके बदले में उन्हें कुछ भी नहीं दे रहे। इस प्रकार का शोषण जीवन-रूपी भूमि की उर्वरा-शक्ति को नष्ट कर देता है। इस भूमि को बराबर जीवन-रस मिलता ही रहना चाहिए, और उसका तरीका आदान-प्रदान ही है। जो उससे कुछ ले, वह उसे किसी रूप में वापस दे और इस प्रकार दान-प्रतिदान का चक्र बराबर चलता रहे।"

कवीन्द्र ने इन थोड़े-से शब्दों में लेखकों, कवियों, गायकों और कला-

कारों के लिए एक महान् सन्देश दे दिया है। कवीन्द्र कोरमकोर कल्पनाशील व्यक्ति ही नहीं थे। उन्होंने जीवन को पूर्ण रूप में देखा था और मानव-समाज के सर्वांगीण विकास के लिए उनका आदर्श, जिसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने शान्तिनिकेतन, विश्व-भारती और श्रीनिकेतन की स्थापना की थी, हिन्दी-जनता के लिए अनुकरणीय है। उनका श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन का पूरक है। वे जीवन को शुष्क नहीं बनाना चाहते थे। उनके वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव को जिन्होंने देखा है, वे कह सकते हैं कि कवीन्द्र जीवन को एकांगी बनाने के सख्त विरोधी थे। क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दी लेखकों, कवियों, गायनाचार्यों और विद्वानों का कोई शिष्टमण्डल शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन की यात्रा इस उद्देश्य से करता कि हम वहां की विशेषताओं का अध्ययन करके उन्हें हिन्दी-भाषा-भाषियों की संस्थाओं में लायंगे! कवीन्द्र रवीन्द्र वस्तुतः महान् कर्मयोगी भी थे।

यदि कवि के मानी हैं द्रष्टा, जो बहुत दूर की देख सके, जो कल्पना के आकाश में विचरण कर सके, यही नहीं, जो अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता हो और जिसका व्यक्तित्व उसके प्रत्येक वाक्य एवं प्रत्येक शब्द के पीछे बोलता हो, तो यह कहना पड़ेगा कि महात्मा गांधी इस युग के सबसे महान कवि थे। कोरमकोर छन्दबद्ध पद्य लिखने वाले जीव कवि नहीं। किसी महान लेखक ने कहा था—"कोरमकोर विचार बिना कार्य के वैसा ही है, जैसा गर्भपात।" और हमें अपने साहित्य-क्षेत्र को इस पाप से—शक्ति के इस अपव्यय से—बचाना है।

लेखक का काम खास तौर पर दुभाषिये का है। वह प्रकृति का दुभाषिया मानव-समाज के लिए है और स्वयं मानव-समाज के एक भाग का दूसरे भाग के लिए। विश्व में तथा मानव-जगत् में इस समय जो इतना कलह मचा हुआ है, उसका एक कारण यह भी है कि संसार में उपयुक्त दुभाषियों की कमी है। इसके सिवाय अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध संग्राम करने के लिए कटिबद्ध रहना भी लेखक का ही कर्तव्य है। यह ज़माना विचार-जगत् में विचरने का नहीं है, यह है अपने विचारों को कार्यरूप में

परिणत करने का युग। किसी ने रोम्यां रोलां से पूछा था, "आप नवयुवकों के लिए क्या सन्देश देंगे ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "नवयुवकों को मेरा सन्देश एक वाक्य में आता है—विचारों से कार्य को अलग मत करो। कार्य दो प्रकार के होते हैं: एक तो निकट का, अभी हाल का और दूसरा दूर का, यानी भविष्य का। ऐसा न होना चाहिए कि दूर के कार्य के कारण हम वर्तमान कर्तव्य की उपेक्षा करें अथवा वर्तमान कार्य हमारी दृष्टि को संकुचित कर दे और विचारों का क्षितिज हमारी आंखों से ओझल ही हो जाय। जो 'बुद्धि-जीवी' वास्तव में सच्चा और सजीव है,वह उपर्युक्त दोनों कर्तव्यों को साथ-साथ निबाहेगा, वह एक के लिए दूसरे का परित्याग न करेगा। जो विचारक है, वह अपने विचारों द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों की धारा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेगा। जो विचार क्रियाशील नहीं है, वह विचार दरअसल विचार ही नहीं है, वह तो कोई स्थिर चीज है—मुर्दा है। आजकल हमारे समाज के विशेष व्यक्ति जिस सौन्दर्य-उपासना का ढोंग रचते हैं और 'विचारों का उद्देश्य विचार' बतलाते हुए कार्य-क्षेत्र से भागते हैं, वह सौन्दर्योपासना वास्तव में बांझ है और वह पतन के गड्ढे के किनारे पर ही है। उसमें मुर्दे की सड़ांद आने लगी है। जो क्रियाशील है, वही जीवित है।"

रोम्यां रोलां का कथन वस्तुतः सोलहो आने ठीक है। हमारे जो लेखक अथवा कवि केवल अपने मन-मन्दिर में प्रगतिशील बनने का अभिमान करते हैं; पर जिनके जीवन के रहन-सहन तथा नित्यप्रति के कार्यों में वही पुरानी प्रतिक्रियात्मक पद्धति विराजमान है, वे साधारण जनता को कभी स्फूर्ति दे सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। जिनका हम उद्धार करना चाहते हैं, उनके बीच में जाने से झिझकते हैं, इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है ?

एक वाक्य में यों कहिये, हम साहित्य को अपने चारों ओर के जीवन के सम्पर्क में लाना चाहते हैं। चारों ओर से हमारा अभिप्राय केवल अपने ग्राम, नगर या मंडल अथवा ज़िले का ही नहीं है। संसार की प्रगति से जो अपरिचित

है, जगत् की घटनाएं जिसे प्रभावित नहीं करतीं, उनके प्रति जो संवेदनशील नहीं है, वह दरअसल लेखक या कवि नहीं। वास्तव में हमें आवश्यकता है ऐसे सैकड़ों लेखकों तथा कवियों की, जिनका मस्तिष्क भले ही आकाश में हो, पर जिनके पैर ठोस जमीन पर हों, जिनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय ही नहीं, बल्कि अखिल मानवीय भी हो, पर जो एक परिमित क्षेत्र में अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रित करके आसपास की जनता के लिए ज्ञान तथा संस्कृति के प्रकाशपुंज या 'डाइनेमो' बन जायं।

साहित्यिक क्या करें? हमारे पास इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है— "जैसा जिसकी अन्तरात्मा कहे, वह वैसा करे।" यह अपनी-अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य और परिस्थिति पर निर्भर है। पर पूर्णतया सजीव साहित्यिक हम उसीको मानेंगे, जिसकी आत्मा किसी बन्धन में नहीं है, जिसकी कलम को कोई सरकार या संस्था कदापि नहीं खरीद सकती, अपनी अन्तरात्मा का आदेश ही जिसके लिए सर्वोपरि है और जो तमाम खतरों में पड़कर भी तदनसार कार्य करता है। हमें श्रम-विभाजन की नीति से और पात्र-भेद का खयाल करते हुए काम करना चाहिए। वास्तव में हिन्दी के लेखकों, कवियों और कलाकारों की जिम्मेदारी इस भारत-भूमि में सबसे अधिक भारी है।

आयरलैण्ड के अमर कलाकार और कर्मयोगी ए. ई. के शब्दों को एक बार हम फिर उद्धृत करते हैं, "अर्थशास्त्री हमें दैनिक रोटी दे सकते हैं; पर भावी दिनों के लिए जिस भोजन की जरूरत प्रभु ईसा ने बतलाई थी, उसका प्रबन्ध तो कोई दूसरे ही करेंगे। वह कार्य है कवियों का, कलाकारों का, गायकों का और उन वीरतापूर्ण तथा उदारचरित महान् व्यक्तियों का, जिनका जीवन नमूने के तौर पर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शों को जन्म दे सकते हैं, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा। कलाकारों का कर्तव्य है कि वे वांछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करें, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलावें और राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खींचकर रख

दें। आयरलैण्ड की विफलता की जिम्मेदारी है हमारे उन कवियों पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से बिलकुल बिछुड़ गये और जो अपनी-अपनी ढपली पर अलग-अलग अपना-अपना राग छेड़ते रहे, और साथ ही उस विफलता की जिम्मेदारी उन लेखकों पर भी है, जिन्होंने मानव-स्वभाव के महत्व पर ध्यान देने के बजाय उसकी क्षुद्रताओं का ही वर्णन करना उचित समझा।"

क्या उपर्युक्त क्तियों में हमारे लिए कोई संदेश नहीं है ? हिन्दी भाषा-भाषी ग्रामों की संख्या चार लाख से कम न होगी। अब वक्त आ गया है कि हिन्दी के लेखक और कवि, गायक और कलाकार आपस में मिलकर इस प्रश्न पर विचार करें कि चार लाख हिन्दी-भाषा-भाषी ग्रामों में, जहां जीवन-सरिता की तह (बकौल कवीन्द्र) झाड़-झंखाड़ और कूड़े-करकट से भर गई है, किस प्रकार आनन्द और उल्लास की लहर लाई जा सकती है ? ओह ! कितना महान् कार्य और कितना उच्च लक्ष्य है हमारे सामने !

: २ :

कस्मै देवाय ?

हमारा देश इस समय एक बड़े संकट में से गुजर रहा है। प्राचीन युग बीत गया है और नवीन युग का अभी पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव नहीं हो पाया। उषाकाल के पहले जैसा अन्धकार रहता है, बस वैसी ही स्थिति इस समय हमारे देश की है। ऐसी परिस्थिति में हम सबका—खास तौर से लेखकों और कवियों का, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनसाधारण के शिक्षक, रहनुमा और ज्ञानदाता हैं—कर्तव्य है कि जमकर और डटकर खड़े हो जायं और यह निश्चय कर लें कि हमें किस मार्ग पर जाना है ?

अब समय आ गया है, जब इस बात का फैसला हो जाना चाहिए कि आखिर हम किसके लिए साहित्य उत्पन्न करना चाहते हैं ?

सेठजी दिन-भर सट्टेबाजी करके रात को दस बजे भरी हुई जेब और खाली दिमाग लेकर घर लौटते हैं। अवश्य ही उनकी मोटी अकल और कमजोर स्नायुओं के लिए किसी हलकी चीज की जरूरत है।

क्या हम ऐसे सेठों के लिए गन्दा साहित्य उत्पन्न करेंगे ?

वकील साहब मुवक्किलों को दिन-रात ठगा करते हैं। उनका हाज़मा—मानसिक और शारीरिक दोनों तरह का—इतना खराब है कि वे किसी पुष्टिकर चीज को हजम ही नहीं कर सकते। मुवक्किलों को लड़ा-भिड़ा कर इतने रुपये इकट्ठा करना, जिससे उनके लड़के और नाती-पोते ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर सकें और उनकी असंतुष्ट पत्नी के पास बहुत से मोटे-मोटे कीमती गहने हो सकें—यही वकील साहब के जीवन का लक्ष्य है। मुवक्किल का मुर्दा बहिश्त में जाय या दोज़ख में, उन्हें अपने

हलुवे-मांड़े से मतलब। हां,

"मुवक्किल छुटे उनके 'जे से जब,
कमाई की चिन्ता जरा कुछ घटी,
तो साहित्य के वास्ते दिल चला,
कहानी उन्हें चाहिए चटपटी।"

क्या इन मन्दाग्नि-पीड़ित वकील साहब के लिए साहित्यिक चाट बनाना हमारे जीवन का उद्देश्य है ?

आटे में लकड़ी का बुरादा और घी में घासलेटी घी मिलाने का व्यवसाय छोड़कर —जो कार्य उनकी योग्यता और संस्कारों के सर्वथा अनुरूप था— वर्माजी या शर्माजी ने किताबों की दूकान कर ली है, और ढाई रुपये फार्म पर 'ग्रन्थ' लिखाना चाहते हैं। हल्की कहानियों की आजकल बाजार में खूब मांग है। उनकी बिक्री से काफी रुपया कमाया जा सकता है।

क्या वर्माजी या शर्माजी के हाथों अपनी आत्मा बेचकर उन्हें लखपती बनाना हमारी जिन्दगी का लक्ष्य हो सकता है ?

क्या हम किसी अर्द्ध-शिक्षित अमीर के नाम से किताब लिखकर, या निरुद्देश्य नरेशों को पुस्तक समर्पित करके, अथवा रीडरबाज़ी या तिकड़म-बाजी द्वारा धनवान बनना चाहते हैं ?

यदि हां, तो हमारा मार्ग साफ़ खुला हुआ है, और साथ ही हमारे पतन का मार्ग भी। हम उसपर सरपट भागकर शीघ्र ही कोठियां बनवा सकते हैं और उसके साथ अपनी कीर्ति का मकबरा भी।

सामने देखिये, वे लाला अवधबिहारी लाल बी० ए० के एक विद्यार्थी चले आ रहे हैं, जिनकी बैठी हुई आंखों और कमजोर कोमल हाथों तथा डगमगाती चाल-ढाल से साफ़ मालूम होता है कि इन्होंने कभी शारीरिक श्रम नहीं किया। रटाई ('स्टडी!') करने के बाद उनके लिए कुछ तफ़रीह का सामान भी चाहिए। उनके पिताजी उन्हें नायब तहसीलदारी में नामजद कराने की कोशिश कर रहे हैं, और बी० ए० पास हो जाने के बाद उन्हें पूरी उम्मीद है कि वे नायब तहसीलदार साहब बन जायंगे। हां, तो इन भावी

नायब तहसीलदार साहब के दिल-बहलाव के लिए कुछ हलका साहित्य चाहिए। और हमारे यहां ऐसे लेखक बहुत से पाये जाते हैं, जो लाला अवधबिहारी लाल के लिए साहित्य उत्पन्न करने को लालायित हैं।

पर जिन लेखकों तथा कवियों में जीवन है, यौवन है और कार्य करने की अदम्य इच्छा है, और साथ ही जो अपने सामने कुछ उच्च आदर्श भी रखना चाहते हैं वे उस पतन के ढलवां मार्ग पर जाना हर्गिज पसन्द न करेंगे। तो आखिर यह लोग किसके लिए साहित्य उत्पन्न करें ?

इस प्रश्न का उत्तर ढाई हजार वर्ष पूर्व, सारनाथ में, दुनिया के सबसे बड़े मिशनरी भगवान् गौतम बुद्ध ने दे दिया था, जब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था—

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।"

अर्थात्—"हे भिक्षुओ, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो।"

अर्थात्—साधारण जनता यानी अधिक-से-अधिक लोगों के हित को, सुख को और कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाकर हमारे साहित्य की रचना होनी चाहिए।

रामलाल (उर्फ रमल्ला) एक किसान है। जात का चमार है। जिस खेत को उसने और उसके भाई-बन्दों ने वर्षों से जोता-बोया था, उसे जमींदार साहब ने बेदखली कराकर छीन लिया है। रमल्ला को साल-भर से मन्द ज्वर आता है। डाक्टर साहब कहते हैं कि वह तपेदिक की पहली स्टेज में है। उसका शरीर गलता जाता है और जीवन-आशा क्षीण होती जाती है ; पर अब भी उसे पेट भरने के लिए दूसरों के खेत पर मजदूरी करनी पड़ती है।

यदि आप लेखक हैं, कवि हैं तो रमल्ला के कष्टों और दुःखों की गाथा को जनता के सामने लाइये और इस प्रकार अपनी लेखनी को पवित्र कीजिये।

चेता कहार है। अमुक सेठजी की मिल में आठ-दस आने रोज पर काम

करता है। उसे कुली-लाइन में कबूतरखाने जैसे कमरे में रहना पड़ता है, जहां डेढ़ सौ कुलियों पीछे पानी का सिसक-सिसक कर रोने वाला एक नल है।

जिस समय सेठजी धारासभा में बैठकर देशभक्ति के नारे बुलन्द करते हैं, उस वक्त बेचारा चेता इस बात की चिन्ता करता है कि उसके बीमार लड़के के लिए दवाई के दाम कहां से आयेंगे। सेठजी मिल के शेयरों के भारी डिवीडेण्ड खाते हैं, और चेता गालियां। सेठजी को मन्दाग्नि है और चेता को भर-पेट भोजन नहीं मिलता। दोनों सूखते जाते हैं—एक करोड़पति बनने की चिन्ता में और दूसरा पेट भरने की फिक्र में।

आप इन दोनों में से किसकी सेवा करना चाहते हैं ? क्या इस प्रश्न के भी दो उत्तर हो सकते हैं ?

धनगोपाल एक निर्धन कम्पोजीटर है। पत्र के स्वामी उसे सबेरे दस बजे से लेकर रात के आठ बजे तक दस घंटे रगड़ते हैं। जब वह बेचारा साढ़े आठ बजे रात को हारा-थका घर पहुंचता है, (वह घर है या घोंसला, जिसे उसने दो रुपये महीने पर ले रखा है ?) तो न तो उसमें इतनी दम रहती है कि वह अपने बच्चों को प्यार कर सके और न इतनी इच्छा रहती है कि पत्नी से दो मीठी बातें कह सके। रूखा-सूखा खाना खाकर वह पड़ रहता है और दस-बारह वर्ष इस प्रकार का जीवन बिताकर उस धाम को चला जाता है, 'जहां की खबर नहीं आती।'

क्या कभी आपने स्वप्न में भी खयाल किया है कि आपके घसीटकर लिखे गये अक्षरों को किसने कम्पोज किया था ? किसने आपके लेख के तीन-तीन प्रूफों का संशोधन करते समय अपनी आंखों की दृष्टि मन्द कर ली थी ?

क्या इन श्रमजीवियों के, इन मजदूरों के साथ आपने अपनी एकात्मकता का कभी अनुभव किया है ?

पाठक कह सकते हैं कि इस प्रकार की भावुकतापूर्ण बातें बहुत सुनी हैं।

दृष्टान्त देकर बतलाइये कि आखिर हम किसे आदर्श मानें ?

आदर्श ? आदर्श इस युग के लिए हमारे साहित्य में एक ही थे—यानी गणेशशंकर विद्यार्थी। उनका जीवन-चरित पढ़िये। आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिल जायगा।

और आदर्श आप चाहते हैं ? तो महावीरप्रसाद द्विवेदी का आदर्श आपके सामने है, जो शहरों और अमीरों की तड़क-भड़क से दूर दौलतपुर के ग्राम में दिन-रात परिश्रम करके अपने जीवन को सार्थक बनाते रहे। जब द्विवेदीजी से पूछा गया कि देव-पुरस्कार किस प्रकार की पुस्तकों पर दिया जाय तो उन्होंने कहा, "ग्राम्य जीवन के लाभ और उसमें आये हुए वर्तमान दोष और उनके दूरीकरण के उपाय पर लिखी गई पुस्तक के लिए एक हजार रुपये दिये जायं और एक हजार किसी ग्रामीण के जीवन-चरित पर, जिसने अपने चरित्र-बल, अध्यवसाय और परिश्रम से अपने को उच्च बनाया हो।"

यदि हम आंख खोलकर देखें तो हमें ग्रामों में ऐसे कितने ही महापुरुष मिलेंगे, जिनका जीवन साधारण जनता के लिए किसी बड़े-बड़े व्यक्ति के जीवन से कहीं अधिक उपयोगी है। उदाहरणार्थ, पीताम्बर हकीम को ही लीजिए। यदि पीताम्बर किसी स्वाधीन देश में होता, तो किसी भी बड़े-से-बड़े वैटरनरी सर्जन से अधिक उसका सम्मान होता। पीताम्बर ने हजारों ही जानवरों को भयंकर बीमारियों से आराम किया था और अपने जीवन-भर में उससे केवल आठ केस खराब हुए थे, और उसने अपने इस कार्य के लिए एक पैसा भी किसी आदमी से नहीं लिया। यदि आप किसान हों और आपके दो बैल हों, और उनमें से एक बीमार पड़कर मर जाय और दूसरा बीमार हो, तब आप पीताम्बर-जैसे महापुरुष के महत्त्व का अनुमान कर सकते हैं। ग्रामों में अनेक पीताम्बर पड़े हुए हैं। उनके पहचानने वालों की कमी है।

क्या निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़कर कोई कह सकता है कि ये किसी वृद्ध की लिखी हुई हैं :

"अवध ही का सूबा नहीं, प्रायः यह सारा-का-सारा देश किसानों ही की

बदौलत आबाद है, ताल्लुकेदारों की बदौलत नहीं। किसान ही उसके आधार-स्तम्भ हैं। उन्हींकी कृपा से ताल्लुकेदारों की ताल्लुकेदारी है। और उन्हीं की कृपा से सरकार की जहांदारी। उन्हें खोखला कर दीजिए, उन्हें और भी निर्बल कर दीजिये, उन्हें और भी पीस डालिये, फिर कहीं कुछ न रह जायगा। ताल्लुकेदारी और जहांदारी दोनों ही नामनिःशेष हो जायंगी। जो लोग गाय-भैंस पालते हैं, वे जब उन्हें यथेष्ट दाना-चारा देते हैं और उनकी सेवा भी करते हैं, तभी उन्हें उनसे दूध मिलता है और बहुत दिन तक मिलता जाता है। ताल्लुकेदार इस बात को न भूलें। किसानों को गाय-भैंस से भी बदतर न समझें। उनके पेट का दाना हर लेने और उन्हें बुरी तरह अपनी मुट्ठी में रखने की चेष्टा न करें। किसानों को सुखी रखने ही से वे सुखी रह सकेंगे। नजराना, बेगार, चारा-घास, इजाफा और बेदखली का दौरदौरा बहुत हो चुका। अब तो दया करें। किसानों को भी अपने हक हासिल करने दें। प्रकारान्तर से उन्हें गुलाम बना रखने का समय गया।

"जिन किसानों की दुरवस्था की सीमा न थी, वही किसान अब रूस के राज्य-संचालक बन गये हैं। जो किसान अवध में पशुवत् समझे जाते हैं, वही किसान खुद सरकार के स्वदेश में महासभा (पार्लमेंट) के आधार हो रहे हैं। अमेरिका और जापान में किसानों का क्या दरजा है, यह क्या पढ़े-लिखे ताल्लुकेदार नहीं जानते ? ताल्लुकेदार अपने समुदाय को देखें और किसानों के भी समुदाय को। पद्दलित जनसमुदाय सदा उसी स्थिति में नहीं रहता। अपने जन्मसिद्ध अधिकारों का ज्ञान होने पर वह भी कभी उठता है, और जब उठता है, तब फिर किसकी शक्ति है, जो उसके उत्थान में बाधा डाल सके।"

पीछे छोड़िये उन डरपोक साहित्य-सेवियों और समालोचकों को, जो यह जानते हुए भी कि अमुक महानुभाव बिलकुल ऊटपटांग ऊल-जलूल बकते हैं—जिनके लेख विक्षिप्त के बर्राने और पागल के प्रलाप से कम नहीं हैं—उनका विरोध करने की हिम्मत नहीं रखते।

हमें कुछ गरज नहीं है उन पद्य-लेखकों से, जो साधारण जनता से कोसों

दूर रहते हुए कोमल नारीत्व से भरी हुई भावनाओं के झूठे मोतियों की लड़ियां पिरोया करते हैं। और न हमें कुछ मतलब है उन कवियों से, जिन्होंने कभी एक दिन के लिए भी भूखों रहने का कष्ट नहीं भोगा, पर जो भूखे आदमियों की दुर्दशा के नाटक का ढोंग रचा करते हैं। अब बीत गये उन गल्प-लेखकों के भी दिन, जो साम्प्रदायिकतापूर्ण गल्प लिखकर इस सुन्दर भूमि में कलह उत्पन्न करते हैं, अथवा अपने ही दुश्चरित्रों का प्रदर्शन करते हुए आत्म-चरित लिख डालते हैं। और, क्या वे भी कोई पत्रकारों में पत्रकार हैं, जो अपनी पत्रिका को चित्रित करने के लोभ में मिस फ़लानी और मिस ढिकानी के लम्बे-चौड़े चित्र, जिनके ब्लाक मुफ्त में मिल जाते हैं, छापकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं ?

हमें युग-धर्म के अनुरूप साहित्य की रचना करनी है। अत्यन्त विज्ञापित महानुभावों के, जो अपने चित्र और चरित्र को सदा अखबारों में छपते हुए देखना पसन्द करते हैं, जीवन-चरित लिखने का ज़माना अब लद गया, और हमारा स्वाभिमानी साहित्य अब हर्गिज गुलामी नहीं करेगा, उन मध्यम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों की, अमीर-उमरावों की, जिनके पास भोग-विलास की काफी सामग्री है और व्यर्थ बिताने के लिए पर्याप्त समय है। उनका सहारा पकड़ना डूबती हुई नाव का आश्रय लेना है।

हम तो उन लोगों के लिए साहित्य उत्पन्न करना चाहते हैं, जो प्रकृति के निकट रहते हैं, जिनकी नींव पाताल में है और जिनकी जड़ को बड़ी-बड़ी हलचलें भी नहीं हिला सकतीं। हम उन ग्रामीण शिक्षकों के लिए साहित्य उत्पन्न करना चाहते हैं, जिनके द्वारा ही छन-छन कर हमारे विचार गांववालों तक पहुंच सकते हैं। हम उन कार्यकर्ताओं को मानसिक भोजन देना चाहते हैं, जो हिन्दी के सिवा दूसरी कोई भाषा नहीं जानते और जो संसार के भिन्न-भिन्न आन्दोलनों की मूल बातों से परिचित रहने के इच्छुक हैं। लेखकों तथा कवियों का कर्तव्य अत्यन्त पवित्र है। बड़ी जिम्मेदारी का काम है। पाखंड पर प्रहार करना, दम्भ को दूर करना और अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाना उनका परम धर्म है।

प्रिन्स क्रोपाटकिन ने एक जगह लिखा है—

"अगर तुम्हें अपने भीतर जवानी की ताकत महसूस होती है, अगर तुम जीते रहना चाहते हों, अगर तुम निर्दोष सर्वांगपूर्ण और उभरती हुई जिन्दगी का आनन्द लेना चाहते हो—यानी, अगर तुम उन सर्वोच्च आनन्दों को जानना चाहते हो, जिनकी कोई भी जीवित प्राणी आकांक्षा कर सकता है—तो मजबूत बनो, महान बनो और जो-कुछ भी तुम करो, उसमें दृढ़ता से काम लो।

"अपने चारों तरफ जीवन के बीज बोओ। खबरदार ! अगर तुम धोखा दोगे, झूठ बोलोगे, षड्यंत्र रचोगे, चरका दोगे तो तुम उससे खुद अपने-आपको पतित करोगे, अपने-आपको छोटा बनाओगे, पहले से अपनी कमजोरियां कबूल करोगे और तुम्हारी हालत जनानखाने के उस गुलाम की तरह होगी, जो हमेशा अपने को अपने मालिक से छोटा समझता है। अगर तुम्हें यही बातें भाती हैं, तो इन्हीं को करो ; लेकिन उस हालत में लोग तुम्हें नाचीज, घृणास्पद और कमजोर समझेंगे और तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव करेंगे। तुम्हारी ताकत का कोई सबूत न होने के मानी यह होंगे कि जनता तुम्हें करुणा का पात्र समझेगी—केवल करुणा का पात्र, बस !

"जब तुम खुद अपने-आप अपनी शक्तियों को पंगु बनाते हो तो दुनिया को दोष मत दो। इसके खिलाफ अपने को शक्तिशाली बनाओ और अगर कहीं तुम्हें कोई अन्याय दिखाई दे और तुम उसे अन्याय या अधर्म मानते हो—चाहे वह जीवन का कोई अन्याय हो, विज्ञान का कोई झूठ हो, यां किसी पर किसी का किया हुआ जुल्म हो तो तुम उस अन्याय, उस झूठ या उस जुल्म के खिलाफ उठकर बगावत कर दो।

"संघर्ष करो, ताकि सारी दुनिया सुखी और उभरता हुआ भरापूरा जीवन बिता सके। विश्वास रखो कि इस संघर्ष में तुम्हें वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई चीज नहीं दे सकती।"

हम युवकों को ऐसा सजीव साहित्य उत्पन्न करना है जो जनसाधारण में जान फूंक सके; पर उसके पहले हमें स्वयं अपने जीवन को सर्वथा

निर्भय, निश्शंक और सत्यप्रिय बनाना पड़ेगा।

इस लेख के शीर्षक पर प्रश्न किया गया था 'कस्मै देवाय ?' हम किसके लिए साहित्य उत्पन्न करें ? उसका उत्तर है 'जनता-जनार्दन के लिए।' उस जनताजनार्दन को—किसान-मजदूरों को, जो भारत की आबादी के ८० फीसदी हैं—हम शत बार नतमस्तक हो प्रणाम करते हैं। वह हमारे आराध्य हैं, वही पूज्य।

: ३ :

साहित्य-सेवियों के आदर्श

हिन्दी-साहित्य-सेवियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। इनमें कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो जन्मतः या स्वभावतः साहित्य-सेवी हैं, जिनके जीवन का लक्ष्य ही शुद्ध साहित्य-सेवा है, जो न दूसरा काम कर सकते हैं और न करने की इच्छा ही रखते हैं। इन्हें हम असली साहित्य-सेवी कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं, जो आर्थिक कारणों से लाचार होकर इस क्षेत्र में आ गये हैं, पर जिनके जीवन का आदर्श दूसरी ओर ही है। पापी पेट भरने के लिए जिन्हें, इन पंक्तियों के लेखक की तरह, यह कार्य करना पड़ता है और जो साहित्य-सेवा को अपने लक्ष्य का एक अस्थायी साधनमात्र समझते हैं। ये फसली साहित्य-सेवी कहे जा सकते हैं। तीसरे प्रकार के साहित्य-सेवी वे हैं, जिनका उद्देश्य केवल पया कमाना है, और वे साहित्य की दूकानदारी उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार उन्हींकी-सी मानसिक प्रवृत्ति वाले उनके साथी नोन, तेल, लकड़ी तथा आटे-दाल की दूकान करते हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि जो चीजें वे जनता को दे रहे हैं, वे सात्त्विक हैं या तामसिक, उन्हें अपने रुपये से काम है। उन्हें इस बात की बिलकुल परवा नहीं कि उनके साहित्य का जनता के चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है।

भारतीय जनता अशिक्षित है, और खास तौर से हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में तो शिक्षा की बहुत ही कमी है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि साधारण जनता धोखे में पड़कर असली और नकली में भेद न कर सके। इसके सिवा हमारे यहां निर्भीक समालोचकों के प्रायः अभाव के कारण भले-बुरे की पहचान और भी कठिन हो गई है। आवश्यकता इस बात की है कि वे लोग जो साहित्य-जगत् में अपनी मातृभाषा के मस्तक को उच्च रखना चाहते

हैं, विचारपूर्वक हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए आदर्श का निर्माण करें।

यह समय हिन्दी-साहित्य के लिए वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रामनिवासियों के हृदय में पढ़ने की इच्छा उत्पन्न होने लगी है। लड़कियों तथा स्त्रियों में भी पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। राजनैतिक दृष्टि से भी हिंन्दी का महत्त्व अब दिनोंदिन बढ़ने ही वाला है। भारत की राजधानी दिल्ली के हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों के बीच में स्थित होने के कारण हिन्दी का महत्त्व और भी बढ़ गया है। वैसे हिन्दी प्रान्तीय भाषाओं की बड़ी बहन है भी। जिस प्रकार भले कुटुम्ब में बड़े-बूढ़ों को यह खयाल करके भी अपने आचार-विचार ठीक रखने पड़ते हैं कि छोटों पर उनका ठीक प्रभाव ही पड़े, उसी प्रकार राष्ट्र-भाषा होने से हिन्दी की जिम्मेदारी भी बढ़ गई है। अब वह समय आ पहुंचा है, जब हिन्दी-साहित्य-सेवियों को अपने साहित्य की पवित्रता तथा उच्चता के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए।

स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी ने कहा था, "हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का भविष्य बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएं इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार-भर के रंगमंच पर एक विशेष अभिनय करानेवाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य-जाति को ऊंचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य तथा सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई, जितनी कि आगे चलकर हिन्दी-भाषा होने वाली है।....

"हमारा कर्तव्य है कि अपनी मातृभाषा तथा राष्ट्र-भाषा के इस उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखें और तदनुरूप अपने चरित्र तथा साहित्य का निर्माण करें।"

साहित्य-सेवी ही साहित्य को उन्नत अथवा अवनत कर सकते हैं और जनता के चरित्र का निर्माण या नाश कर सकते हैं। इस समय हमारा साहित्य व्यापक अवश्य बन रहा है, पर उसमें अभी गम्भीरता या गहराई की बहुत कमी है। लोग यह समझ गये हैं कि साहित्य में रुपया है, इसलिए कितने ही नकली साहित्य-सेवी भी इस मैदान में आ डटे हैं। उनके पास

पूंजी है और उनका विश्वास है कि रुपये से वे चाहे जिस लेखक को खरीद सकते हैं। अभी हम लोगों ने उस खतरे का पूर्णरूप से अनुभव नहीं किया है, जो भविष्य में पूंजीपतियों से लेखकों तथा पत्रकारों को होनेवाला है।

इन सब बातों पर ध्यान रखकर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी समय रहते सावधान न हुए तो वे कहीं के न रहेंगे। विदेशी भाषाओं की बात छोड़ दीजिए। उनके यहां अत्युत्तम साहित्य का निर्माण हो चुका है, जिसका मुकाबला करते-करते हमें पचास-साठ वर्ष से भी ज्यादा लग जावेंगे। यदि उनके यहां कोई चरित्रहीन लेखक उत्पन्न हो जाय तो वह साहित्य की विशेष हानि नहीं कर सकता, पर हमारे यहां तो उससे भयंकर हानि हो सकती है। हिन्दी-साहित्य-सेवी चलते-चलते अब ऐसे स्थान पर आ गये हैं, जहां से सड़क दो ओर को जाती है। या तो वे अपने आदर्श को पाश्चात्य लेखकों के अनुरूप बना सकते हैं—और प्रवृत्ति कुछ उधर की ओर ही विशेष रूप से पाई जाती है—अथवा वे प्राचीन प्राच्य आदर्शों को दृढ़तापूर्वक अपना सकते हैं। हमने सुना है कि अनेक पाश्चात्य लेखक और पत्रकार रहने के लिए सुन्दर बंगला और चढ़ने के लिए अपनी मोटर जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओं में समझते हैं, और इसके विपरीत भारतीय आदर्श आश्रम की झोंपड़ी या कुटी का है। हमारे साहित्य-सेवी किस आदर्श को ग्रहण करेंगे, इस प्रश्न पर हिन्दी-साहित्य का भविष्य निर्भर है। बंगला या मोटर कोई बुरी चीज नहीं है, पर चूंकि ये चीजें साधारण आदमियों को नहीं मिल सकतीं, इसलिए इनकी आकांक्षा करना साहित्य-सेवियों के लिए अनुचित ही होगा। भारत-जैसे निर्धन देश में आदर्श साहित्य-सेवी के रहन-सहन का स्टैंडर्ड साधारण जनसमुदाय के रहन-सहन से बहुत ऊंचा न होना चाहिए। यहां साहित्य-सेवी तथा जनता के रहन-सहन के स्टैंडर्ड का अन्तर जितना ही बढ़ता जावेगा, साहित्य-सेवी की उपयोगिता उतनी ही घटती जावेगी। साहित्य-सेवी को अपने को उन अंगरेज पादरियों की तरह न बना देना चाहिए, जो नगर से दूर बंगले में रहते हुए झोंपड़ी-निवासी गरीब जनता को प्रभु ईसामसीह का सन्देश सुनाना चाहते हैं।

प्रत्येक साहित्य की एक आत्मा हुआ करती है और हमें अपने साहित्य की आत्मा तुलसी और कबीर में मिल सकती है। इनके मुकाबले के आदमी भारत की देशी भाषाओं में तो क्या, संसार की भाषाओं के इतिहास में भी मुश्किल से मिलेंगे। यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी अपने आदर्श का निर्माण इन दोनों महापुरुषों के जीवन-चरित को सामने रखकर करेंगे तो निस्सन्देह उनकी जड़ मजबूत रहेगी। उसके आधार पर वे विशाल भवन खड़ा कर सकते हैं।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो हमें ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह है कि आदमी के व्यक्तित्व को उसकी कृति से अलग करना भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत है। मनुष्य के चरित्र को 'प्राइवेट' तथा 'पब्लिक जीवन'—इन दो भागों में बांटना भारतीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। हम यह जानना चाहते हैं कि जो लेखक हमें अपनी पुस्तकों में नाना प्रकार के उपदेश देता है, वह स्वयं अपने उपदेशों के अनुसार निजी जीवन व्यतीत करता है या नहीं? यदि कोई शराबी लेखक मादक द्रव्य-निवारण के पक्ष में लेख लिखे तो जनता पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा?

दुर्भाग्य से हमारे यहां ऐसे साहित्य-सेवी भी पाये जाते हैं, जो कहते हैं कि साहित्य-सेवियों को विशेषाधिकार मिलना चाहिए और उनके चरित्र को साधारण आदमियों के चरित्र की कसौटी पर नहीं कसना चाहिए। ऐसा कहनेवाले लोग या तो भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के उच्च आदर्श से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, अथवा जान-बूझ कर उसकी हत्या करना चाहते हैं। वस्तुतः साहित्य-सेवियों के चरित्र की जांच और भी अधिक कठोरता के साथ की जानी चाहिए,क्योंकि मामूली आदमी अपने दुश्चरित्र से स्वयं अपनी या निकट सम्बन्धियों की ही हानि करता है, पर साहित्य-सेवी तो सम्पूर्ण साहित्य-सरोवर में ज़हर डालकर सहस्रों-लक्षों आदमियों की जिन्दगी बर्बाद कर सकते हैं। यह सम्भव नहीं है कि दुराचारी होते हुए भी हम शुद्ध साहित्य का निर्माण कर सकें। कोई-न-कोई बात हमारी लेखनी से ऐसी निकल जायगी, जो हमारे असली स्वरूप को जनता के सम्मुख रख देगी

और भोले आदमियों को पाप-पंक में फंसा देगी। हम अपने असली मानसिक भावों को थोड़े समय के लिए भले ही छिपा सकें, पर अन्त में वे प्रकट होकर ही रहेंगे। सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सन ने एक जगह लिखा है –

"आप किसी भेद को छिपा नहीं रख सकते। यदि कलाकार अपनी गिरती हुई तबीयत (स्पिरिट) को सहारा देने के लिए अफीम या शराब की शरण लेता है तो उसकी कृति में अफीम और शराब के प्रभाव की विशेषता अवश्य मिलेगी।"

हम ऐसे लेखकों को जानते हैं, साहित्याकाश में जिनका उदय बड़ी शान के साथ हुआ, पर जिनकी आंखों में अपनी ही कीर्ति के उज्ज्वल प्रकाश से चकाचौंध उत्पन्न हो गई और जिन्होंने अपने जीवन में भोग-विलास और असंयम को स्थान दे दिया। परिणाम यह हुआ कि उनका पतन उतनी ही शीघ्रता से हुआ, जितनी शीघ्रता से उनका उदय हुआ था। संयम और सदाचार केवल दीर्घ-जीवन के लिए ही आवश्यक नहीं हैं, बल्कि साहित्य के जीवन में चिरस्थायी कीर्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों चीजों की नितान्त आवश्यकता है।

ज्यों-ज्यों साधारण जनता में शिक्षा का प्रचार होता जायगा त्यों-त्यों वह साहित्य-सेवियों के प्रति अधिकाधिक श्रद्धालु बनती जायगी। साहित्य-सेवियों का कर्त्तव्य है कि वे उस श्रद्धा के सुयोग्य पात्र बनें। जनता अपने आदर्शों का निर्माण उन्हींके चरित्र को देखकर करेगी, और यदि वे ही चरित्रहीन हुए, तो सारे समाज के चरित्रहीन बनने की आशंका है।

पाश्चात्य देशों के साहित्य-सेवियों के आदर्श क्या हैं, और वहां साहित्यिकों के व्यक्तिगत जीवन का साधारण जनता पर क्या प्रभाव है, इसका हमें पता नहीं; पर भारतवर्ष में तो व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। स्व. लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी तथा महात्मा गांधी के प्रभाव के मूल में उनके जीवन की पवित्रता का भाग कितना महत्वपूर्ण है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। इस प्रसंग में महात्माजी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली एक बात याद आती है। जब रुपये इकट्ठे करने के लिए

वे बर्मा गये हुए थे तो किसी नाटक-मंडली के अध्यक्ष ने उन्हें निमन्त्रित किया और दो हजार रुपये देने का वचन दिया। महात्माजी के सेक्रेटरी ने समझा कि यह नाटक उसी सात्विक ढंग से खेला जायगा, जिस ढंग से आन्ध्र देश के हिन्दी-प्रेमियों ने कबीर का नाटक खेला था और इस निमन्त्रण को महात्माजी की ओर से स्वीकार कर लिया। जब महात्माजी नाटकघर में पहुंचे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वहां उन्हें पारसी थियेटरों की तरह का साज-सामान—विदेशी कपड़े, मुंह पर पाउडर इत्यादि—का दृश्य दीख पड़ा। वहां से लौटकर उन्होंने अपने साथियों को ऐसी डांट बतलाई कि वे रो पड़े। महात्माजी ने कहा, "तिलक-स्वराज्य-फंड के दिनों में मुझसे एक थियेटर के मालिक ने कहा कि आप हमारे नाटक-घर में सिर्फ दस मिनट के लिए हो आइये, हम आपको पचास हजार रुपए देंगे, पर मैंने जाना नामंजूर कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि लाखों आदमी ऐसे हैं, जिनकी दृष्टि मेरे चरित्र पर है, और यदि मैं कोई गलती करूंगा तो उनपर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। मैं नहीं गया और पचास हजार रुपये मैंने छोड़ दिये।"

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

गीता का यह वाक्य साहित्य-सेवियों को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए।

साहित्य-सेवियों की जिम्मेदारी बड़ी भारी है। साधारण हिन्दी-जनता के हृदय में जो भारतीय संस्कृति बीज-रूप से विद्यमान है, उसको उचित मानसिक जलवायु और भोजन पहुंचाने का काम उन्हींके जिम्मे है और उन्हींके प्रयत्न से वह बीज फल-फूल कर सुविशाल वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

साहित्य-सेवियों को अपने व्यक्तित्व को स्वाधीन रखने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि पराधीन व्यक्ति अपनी सम्मति स्पष्टतया प्रकट नहीं कर सकता। अपनी विलायत-यात्रा में एक बार महात्माजी ने कहा

था, "उन पत्रकारों को जो अपनी सम्मति स्पष्टतया प्रकट करना चाहते हैं, गरीबी का जीवन स्वीकार करना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो बेहतर है कि वे कोई दूसरा पेशा अख्तियार करें, चमार का काम करें और जूतें बेचें।" भारतीय पत्रकारों तथा साहित्य-सेवियों के लिए यह बात और भी दृढ़ता के साथ कही जा सकती है। अपनी सम्मतियों को बेचकर रुपये पैदा करने की अपेक्षा यह कहीं बेहतर है कि आटा-दाल बेचकर अपनी गुजर की जायँ।

आर्थिक लोभ अथवा संहग्र-वृत्ति भारतीय साहित्य-सेवियों का आदर्श कदापि नहीं रहा। वाल्मीकि और व्यास सुविशाल भवनों के निवासी नहीं थे, और कबीर तथा तुलसी ने किसी बैंक में रुपया जमा नहीं किया! जब हम किसी साहित्य-सेवी के विषय में सुनते हैं कि उन्होंने साहित्य-सेवा द्वारा इतन सहस्र रुपये कमाये तो हमारे हृदय में यह जानने की उत्कंठा उत्पन्न होती है कि उन रुपयों का उन्होंने क्या सदुपयोग किया। प्राचीन आर्य-संस्कृति के अनुसार लेखकों तथा कवियों का आदर्श हजारों रुपया जमा करके अपने बालबच्चों को छोड़ जाने का कदापि नहीं था। और क्या हमारे यहां कोई ऐसा कवि या लेखक विद्यमान है, जिसका प्रभाव उन महानुभावों के सहस्रांश या लक्षांश तक भी पहुँच सके? संग्रहवृत्ति प्राच्य आदर्श कदापि नहीं, पाश्चात्य आदर्श भले ही हो।

भारत के—भारत के ही नहीं, शायद संसार के—सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कविवर रवीन्द्रनाथ के ही जीवन को लीजिये। बहुत से लोग समझते हैं कि कविवर का जीवन बड़ी सरलता के साथ कटता है। कोई-कोई महानुभाव कह बैठते हैं, "यदि कविवर के साधन हमारे पास होते तो हम यह कर लेते, वह कर लेते। खाने-पीने की कुछ फिक्र नहीं, सब तरह के ऐशो-आराम के सामान मौजूद हैं, जो वस्तु जब चाहें, उपस्थित हो सकती है। सुन्दर प्राकृतिक स्थान रहने के लिए है। भला ऐसी स्थिति में अच्छी कविता कोई क्यों न कर सकेगा?" इस प्रकार का तर्क हमने अनेक सज्जनों के मुंह से सुना है। इन लोगों को न तो कविवर के वास्तविक जीवन का कुछ ज्ञान

है, और न उनके आदर्श तथा आकांक्षाओं का बिलकुल पता है। उपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य कविवर का आदर्श था—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

क्या हम लोग जानते हैं, कितने आदमियों को कविवर ने लेखक तथा कवि बनने में सहायता दी है? कितने आदमी उनकी प्रेरणा से कुशल चित्रकार और सुदक्ष संगीतज्ञ बन गये? कितने साहित्य-सेवियों को उन्होंने अपनी प्रतिभा के विकास में पूरी-पूरी सहायता दी है? कितने विद्यार्थियों के लिए उन्होंने मनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य तथा हितकर सत्संग सुलभ बना दिया है? कितने देशी-विदेशी विद्वानों को उन्होंने शान्ति-निकेतन का आतिथ्य ग्रहण करने तथा भारतीय संस्कृति से परिचित होने का अवसर प्रदान किया है? कितने ग्रामीण उनके श्रीनिकेतन द्वारा अपने जीवन में नवीनता अनुभव कर रहे हैं। दरअसल कविवर की यह दान-शीलता ही है, जिसने उनके व्यक्तित्व को सजीव बना रखा है। स्वयं आनन्द उठाना आसान बात है, पर उसमें मजा नहीं; गौरव इसीमें है कि उस आनन्द को मिलकर बांटा जाय। जो साधन आपको प्राप्त हैं, उन्हें दूसरों के लिए भी सुलभ कीजिए, तभी आप अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास कर सकते हैं। इसमें रुपये का सवाल उतना नहीं है, जितना मान-सिक वृत्ति का है। यदि पूज्य महावीरप्रसाद द्विवेदी चौबीस रुपये के वेतन में भी चार रुपये दान कर सकते थे, तो हम लोग तो उनसे कई गुना वेतन पाते हैं। बीसियों विद्यार्थी आपको ऐसे मिलेंगे, जिनको यदि समय पर थोड़ा भी प्रोत्साहन मिल जाय तो वे आगे चलकर अच्छे लेखक अथवा कवि बन सकते हैं। क्या उनसे सहृदयतापूर्वक मिलने तथा उत्साह की दो बात कहने में भी खर्च होता है? आपके दरवाजे पर भीख मांगने के लिए जो बुढ़िया आया करती है, उसकी रामकहानी किसी उपन्यास से भी अधिक करुण है। यदि आपमें लेखनशक्ति है, तो उसकी करुण-कथा लिखकर उसकी कुछ सहायता कीजिये। यदि हम जरा और कान खोलकर चलें तो हमें अपनी लेखनी के

लिए नित्यप्रति मसाला मिल सकता है। एक रूसी लेखक ने लिखा है—

"क्या तुम लेखक बनना चाहते हो? यदि हां, तो अपनी जाति के पुराने जमाने से संचित दुःखसमूह का इतिहास पढ़ो। अगर उसे पढ़ते हुए भी तुम्हारा हृदय विदीर्ण न हो तो अपनी लेखनी फेंक दो। बस, फिर सब कोई तुम्हारे पाषाण-हृदय की खेदजनक शुष्कता को पहचान लेंगे।"

प्रत्येक लेखक को अपना लक्ष्य और आदर्श स्वयं चुनना चाहिए। किसी दूसरे के चुने हुए आदर्श को अन्ध-विश्वास के साथ मान लेने का परिणाम अच्छा नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न प्रकार के लेखकों से मिलिये। प्राचीन और नवीन लेखकों तथा कवियों की रचनाओं को पढ़िये और उनका सत्संग भी कीजिये। केवल अपनी ही भाषा के नहीं, दूसरी भाषाओं के भी विद्वानों से परिचय प्राप्त कीजिये। अपने दृष्टिकोण को ऊंचा रखिये और शिक्षा जहां कहीं से भी मिल सकती है, उसे ग्रहण कीजिये। इस प्रकार प्रयत्न करते-करते आप अपने आदर्श को चुन सकते हैं, पर चुन लेने के बाद भी आपको सदा इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि यदि भविष्य में इनसे उच्चतर आदर्श मिलेगा तो हम निस्संकोच उसे ग्रहण कर लेंगे। हमें अपने लिए जो आदर्श दीख पड़ते हैं, वे ये हैं—

प्राचीनों में कबीर और तुलसी; आधुनिकों में सत्यनारायण, गणेशजी, द्विवेदीजी तथा पद्मसिंहजी। इन महानुभावों ने जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया है, उसे अपना आदर्श मानकर कोई भी साहित्य-सेवी गौरवान्वित हो सकता है। जिस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य आजकल के जमाने में एक आदर्श की भांति रह सकता है, व्यवहार में उसे चरितार्थ करना लगभग असम्भव है, उसी प्रकार हमारे जैसे क्षुद्र आदमियों के लिए तुलसी और कबीर के आदर्शों के अनुसार चलना असम्भव ही समझिए। फिर भी आदर्शों को सामने रखने की आवश्यकता है। आत्मा का विकास एक जन्म में ही थोड़े हो सकता है। कभी-न-कभी, दस-बीस जन्म में ही सही, हम लोग अपने आदर्श के निकट पहुंच सकते हैं।

तुलसीदासजी का आदर्श सुनिये—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपात सन्त सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ सन्तोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो;
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो;
विगत मान सम सीतल मन पर गुन अवगुन न कहौंगो।
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो;
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

कबीर कहते हैं—

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।
कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ;
जो घर फूंके आपना, चलै हमारे साथ।

इन उद्धरणों में किसी भी साहित्यिक को अपना जीवन बनाने के लिए काफी प्रेरणा विद्यमान है। सत्यनारायण का चरित हम इसलिए आदर्श मानते हैं कि उन्होंने साहित्य-सेवा को कभी वणिक-वृत्ति के अधीन नहीं किया। जिस प्रकार उपवन में गानेवाली कोकिल इस बात का खयाल नहीं करती कि मेरा गाना सुनकर मुझे कोई दाना-पानी देगा, उसी प्रकार यह ब्रज-कोकिल सर्वथा निस्स्वार्थ-भाव से साहित्याकाश को अपनी मधुर वाणी द्वारा गुंजायमान करता रहा। और अमर शहीद श्रद्धेय गणेशजी के विषय में क्या लिखा जाय? राजा-महाराजाओं की भृकुटी जिसे विचलित न कर सकती थी, करोड़पतियों की अखिल सम्पत्ति जिसे खरीद न सकती थी और शक्तिशाली सरकार भी जिसकी आत्मा का दमन न कर सकती थी, भला उसका चरित किसके लिए आदर्श न होगा? पूज्य द्विवेदीजी की कर्त्तव्यप्रियता, परिश्रमशीलता और निर्भीकता किसके

लिए अनुकरणीय नहीं है ? पद्मसिंहजी की सहृदयता, दूसरों को उत्साहित करने की अकृत्रिम प्रवृत्ति और सच्चा साहित्यिक जीवन हमें बहुत-कुछ सिखला सकता है ।

हम यह नहीं कहते कि सब लोग केवल इन्हींको अपना आदर्श मानें, पर कोई-न-कोई आदर्श प्रत्येक लेखक या कवि को अपने सम्मुख अवश्य रखना चाहिए। आजकल की साहित्यिक धांधलेबाजी के जमाने में इसकी आवश्यकता है। कोई अपनी किताबों को पाठ्यक्रम में नियत कराने के लिए खुशामद कर रहा है और रिश्वत दे रहा है तो कोई धनाढ्यों की चाटुकारी करके उनसे रुपये ऐंठना चाहता है। किसीने अपना मठ कायम करके गुरुडम के द्वारा सम्पूर्ण साहित्य-क्षेत्र पर अपना एकाधिपत्य जमाने की ठान ली है, तो कोई तिकड़मबाजी द्वारा जल्दी-से-जल्दी लखपती बनने की फिक्र में है। कोई दलबन्दी का आश्रय लेकर अपने पैसों के बल-बूते पर साहित्य-संसार में रोब जमा रहा है तो कोई महात्मा बनने का ढोंग रच रहा है। ऐसी परिस्थितियों में नवीन साहित्य-सेवी की अक्ल चकरा सकती है, वह किसे आदर्श माने, किसे न माने ।

हम लोगों ने अभी तक उस महत्त्वपूर्ण भाग की कल्पना नहीं की है, जो हिन्दी लेखक तथा कवि स्वाधीन भारतीय राष्ट्र के निर्माण में ले सकते हैं। जो महान् कार्य हिन्दी-साहित्य-सेवी कर सकते हैं, वह अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषियों के लिए कठिन होगा, पर इसके लिए कई बातों की आवश्यकता है—

(१) अपने राष्ट्र तथा अपनी भाषा के उज्ज्वल भविष्य में हमारा विश्वास हो।

(२) इस बात को हम कभी न भूलें कि अच्छे साहित्यिक होने के लिए अच्छा आदमी बनना आवश्यक है और देश तथा भाषा को सहृदयतापूर्ण, सज्जनता तथा दम्भहीन पवित्रता की जितनी आवश्यकता है, उतनी शुष्क विद्वत्ता की नहीं।

(३) हमारे आदर्श भारतीय संस्कृति के अनुरूप हों, साधारण जनता की सेवा को ही हम अपना पुरस्कार समझें, हमारे लेखों के पीछे व्यक्तित्व हो और अपने लक्ष्य के लिए मर-मिटने के लिए हम सदा तैयार रहें।

सच्चे साहित्यिकों की जीवन-नौका को वास्तव में अनेक खतरों का सामना करना पड़ता है। आर्थिक प्रलोभनों की चट्टानों या बेकारी के तूफानों में बड़े-बड़ों का धैर्य छूट जाता है। ऐसे अवसर पर सच्चा आदर्श ही हमारे लिए ध्रुव-नक्षत्र का काम करेगा।

: ४ :

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

वर्तमान युग में सजीव तथा स्वाधीन-चेता साहित्य-सृष्टाओं के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है :

क्या हम किसी पार्टी का बिल्ला लगाये बिना जिन्दा रह सकते हैं ? और ज्यों-ज्यों राजनैतिक दलों के संघर्ष तीव्रतर होते जायंगे और भिन्न-भिन्न दलों के सिद्धांतों तथा विश्वासों की मुठभेड़ की ध्वनि साहित्याकाश में ध्वनित होती जायगी, यह प्रश्न निरन्तर उग्रतर रूप धारण करता चला जायगा, इसीलिए आज इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

अमुक लेखक बुर्जुआ वर्ग में पैदा हुआ था, इसलिए उसके अन्तःकरण में अपने वर्ग की भावना काम करती रही होगी। वह स्वभावतः निम्नकोटि के पददलित आदमियों का चरित्र-चित्रण करने में असमर्थ है। साहित्यिकों के गले में भिन्न-भिन्न वादों की कंठी बांध देने की यह निन्दनीय प्रवृत्ति जिनके हृदय में उत्पन्न होती है, वे किसी एक राजनैतिक दल में ही नहीं, सभी पार्टियों में पाये जाते हैं। सवाल यह है कि क्या कोई भी जिन्दादिल साहित्यिक इस प्रकार संकीर्ण शिकंजों में फंसना पसन्द करेगा ?

निस्सन्देह उन लेखकों का मार्ग कुछ सरल हो जाता है, जो किसी पार्टी विशेष का प्रचार करने में अपनी शक्ति का उपयोग करने लगते हैं। यद्यपि उग्र विचारों के समर्थन में उन्हें खतरे का सामना करना पड़ता है तथापि यह आशा तो उन्हें रहती ही है कि हमारी पार्टी के हाथ में ताकत आने पर हमारे कार्यों का पारिश्रमिक हमें मिल ही जायगा। यह आशा

कितनी निराधार है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

ऐसी स्थिति में साहित्य-सेवी क्या करे ? इस सवाल का कोई बंधा-बंधाया जवाब हो नहीं सकता। हां, एक व्यापक उत्तर अवश्य दिया जा सकता है कि अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि के अनुसार जैसा वह समझे करे।

वर्तमान युग में रोम्यां रोलां और स्टीफन ज्विग, इन दो मित्रों ने इस प्रश्न को दो भिन्न-भिन्न ढंगों पर सुलझाया और दोनों ने ही 'स्वधर्म' का पालन किया, ऐसा कहना अनुचित न होगा। मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का समूह है। किसीमें एक प्रवृत्ति जोरदार होती है तो किसीमें दूसरी। रोम्यां रोलां जीवनभर अपनी लेखनी द्वारा अन्यायों तथा अत्याचारों का विरोध करते रहे। जुल्म चाहे हिन्द-चीन में हुआ हो या भारत में, अपनी बुलन्द आवाज उसके खिलाफ उठाने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। स्वयं कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को, जो सरस्वती के अनन्य साधक थे, अनेक बार साम्राज्यवादियों के खिलाफ कठोर-से-कठोर भाषा का प्रयोग करना पड़ा। इनसे सर्वथा भिन्न उदाहरण स्टीफन ज़्विग का है, जिन्होंने विवादग्रस्त राजनीति से सदा अपने को पृथक् ही रखा और जबतक हम उनकी विशेष परिस्थितियों को भली-भांति समझ-बूझ न लें तबतक उनके बारे में किसी निर्णय पर पहुंचना उनके प्रति अन्याय ही होगा।

ज़्विग आस्ट्रियन थे, यहूदी थे, सरस्वती के एकान्त उपासक और शान्तिवादी भी। इसका परिणाम यह हुआ कि घोरतम संघर्ष में से उन्हें गुजरना पड़ा। पिछले दोनों युद्धों में आस्ट्रिया की जो दुर्दशा हुई उसका वर्णन करना आसान नहीं और यहूदियों पर जो जुल्म ढाये गये वे भी वर्णनातीत हैं। ज़्विग को विवादग्रस्त राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी, पदों के प्रति कोई मोह नहीं था। एक बार उन्हें आस्ट्रियन सरकार ने अपना राजदूत बनाकर विदेश भेजने की बात सोची थी, पर ज़्विग ने उस प्रलोभन को अस्वीकार ही कर दिया, किसी पार्टी विशेष का प्रोपेगेण्डा करना उनकी

रुचि के सर्वथा प्रतिकूल था और अपने सिद्धांतों की बिक्री करने की बात वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे, कीर्ति या विज्ञापन की उन्हें जरूरत नहीं थी। एक संस्कृत कवि का कथन है कि कीर्ति-रूपी कन्या सदा क्वारी ही रही है। जो उसे चाहते हैं उन्हें वह नहीं चाहती और जिसे वह चाहती है, वह पुरुष उसे (कीर्ति को) नहीं चाहता। जिस अमर ग्रन्थकार के ग्रन्थों का अनुवाद तीस भाषाओं में हुआ हो, जिसके विषय में राष्ट्र-संघ की बौद्धिक सहयोग समिति का यह कथन हो कि वर्तमान युग में संसार में सबसे अधिक अनुवाद ज़्विग की ही रचनाओं के हुए हैं, भला उसे राज-नैतिक नेताओं से सर्टीफिकेट लेने की जरूरत ही क्या थी ?

बौद्धिक परिश्रम को ही जो जीवन की सबसे अधिक आनन्दप्रद वस्तु मानता हो और व्यक्तिगत स्वाधीनता को जिसने जगत की अमूल्य निधि समझा हो, उससे यह उम्मीद करना कि वह किसी पार्टी की कंठी गले में बांध लेगा, महज हिमाकत है। स्वाधीनता की बलि-वेदी पर अपने उत्कृष्ट जीवन की ही बलि जिसने दे दी उससे आप और किस उत्तमतर बलिदान की आशा रख सकते हैं ?

चंचला राजनीति के चंगुल में फंसे हुए नेता अमर साहित्य की रचना करने वाले साहित्य-सृष्टाओं को अपना पिछलग्गू बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं, तो वे शेर को बिल्ली समझने की भूल करते हैं। ज़्विग निरन्तर जागरूक रहे और ऐसे पिंजड़ों में फंसने की गलती उन्होंने कभी नहीं की। महीने-दो महीने रूस में बिताकर उसके पक्ष या विपक्ष में पुस्तक लिख देने वाले ग्रन्थकार संसार के अनेक देशों में पाये जाते हैं, पर ज़्विग ने इस 'काता और ले दौड़े' वाली नीति का अनुगमन नहीं किया।

ज़्विग का साधनामय जीवन और असाधारण मृत्यु दोनों का ही हमारे लिए आज विशेष महत्व है। वह दिन दूर नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह घड़ी आ पहुंची है जब कि प्रत्येक सजीव साहित्यिक को अपने जीवन के मुख्य ध्येय के विषय में अन्तिम निर्णय करना होगा।

कौन कहता है कि अन्याय और अत्याचार का विरोध न किया जाय ?

किया जाय और जरूर किया जाय, पर उसका तरीका यह नहीं है कि सबको एक लाठी से हांका जाय अथवा सबके माथे पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बिल्ले लगा दिये जायं। जिन्हें सामूहिक रूप से विरोध करने में सुविधा हो, वे वैसा करें, और जो व्यक्तिगत तरीके पर ही संग्राम करना चाहें उन्हें उसकी छूट रहनी ही चाहिए।

सबसे मुख्य सवाल हमारे लिए यह है कि हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रति वफादार किस प्रकार रहें?

संसार वैचित्र्यमय है और वचित्र्य ही जीवन है। एक राजनैतिक दल, एक नेता और एक ही कार्यक्रम की आवाज जो लोग लगाते हैं वे किसी-न-किसी दिन अपने को भेड़ के रूप में पावेंगे और राम-कृपा से उन्हें अपनी रुचि का गड़रिया मिल ही जायगा—'जो इच्छा करिहो मनमाहीं, रामकृपा कछु दुर्लभ नाहीं।' पर यह पथ एकाकी चलने वाले साहित्यिकों का नहीं है।

हर लेखक, कवि अथवा पत्रकार को आज के महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देना है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' ही हम लोगों के लिए आदर्श वाक्य है। याज्ञवल्क्य ने जब अपनी पत्नी को आध्यात्मिक ज्ञान से विरत करने के लिए अनेक प्रलोभन दिये थे तब उन्होंने एक ही उत्तर दिया था—येनाहम् नामृतास्याम् तेनाहं किं कुर्याम्।' (जो चीज मुझे अमर नहीं बनाती उसे लेकर मैं क्या करूंगी ?) जो भारतीय लेखक क्षणिक पद-प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर अपने अन्तःकरण की ध्वनि के अनुसार कार्य करेंगे वे ही उस प्रश्न का यथोचित उत्तर देंगे।

: ५ :

भावी युग और लेखक

आज हम संक्रांति-काल में से गुजर रहे हैं और क्या राजनीतिज्ञ, क्या उद्योग-पति, क्या राजा और क्या प्रजा, सभी घबराये हुए से हैं। खास तौर पर भारतवर्ष में तो हम लोग भविष्य के विषय में अत्यन्त चिन्तित हैं। क्या होने जा रहा है? यह प्रश्न सबके लिए चर्चा का विषय बना हुआ है। ऐसी परिस्थिति में पत्रकारों का, जो जनता के शिक्षक होने का दम भरते हैं (या दावा करते हैं) कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने विचार इस विषय पर प्रकट करें।

विचारों में जबरदस्त शक्ति है। आज जो विचारमात्र है, कल वह कार्यरूप में परिणत हो सकता है। एक बात हमें न भूलनी चाहिए। वह यह कि संसार की भावी सामाजिक व्यवस्था अखिल जगत के मानव-समूह के सामूहिक विचारों का परिणाम होगी। दुःख की बात यही है कि संसार के करोड़ों मनुष्य अपने आप विचार करने की शक्ति खो बैठे हैं।

'तन मन धन गुसाईंजी के अर्पन'

यह भावना दुनिया के लिए कोई नवीन नहीं है। जहां भक्ति मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वहां अन्ध श्रद्धा उसके लिए विघातक भी हो सकती है। दुनिया के लिए सबसे अधिक खतरनाक व्यक्ति तानाशाह नहीं हैं, बल्कि वे अन्धश्रद्धालु आदमी हैं, जो अपनी अकल से काम न लेकर किसी व्यक्ति-विशेष के घोर भक्त बन जाते हैं और सही-गलत हर हालत में उसका अनुगमन करते हैं।

मार्क्सवाद, गांधीवाद और इनकी शाखा-प्रशाखाओं ने जनता के मस्तिष्क को भर दिया है। जिस तरह भिन्न-भिन्न मजहब वालों का यह

दावा है कि स्वर्ग के द्वार की कुंजी उन्हींके पास है, उसी तरह साम्यवादी, समाजवादी और गांधीवादी यही समझते हैं कि मुक्ति का मार्ग उनके सिवाय और कोई नहीं जानता। सारी राजनैतिक बीमारियों को दूर करने की दवा उन्हींके पास है। मानव ऐसा प्राणी नहीं है जो बहुत वर्षों तक संकीर्ण विचारों की चहारदीवारी में बन्द रक्खा जा सके। डिक्टेटर लोग चाहे वे हिटलर के अनुयायी हों या स्टैलिन के—यही गलती कर बैठते हैं। वे मस्तिष्क की महान शक्ति की अवहेलना करते हैं। कोई भी सामाजिक व्यवस्था, जो भिन्न-भिन्न रुचियों के मानव-समूहों की नाना प्रकार की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल एक ही किस्म के विचार सबपर लाद देना चाहती है, स्वयं अपनी असफलता के बीज बोती है।

अब समय आ गया है कि हम लोग अपनी सम्मति स्पष्टतया जनता के सम्मुख रख दें। संभवतः उससे संघर्ष होगा, पर इस संघर्ष से हम डरें क्यों ?

क्या गांधीवादी और क्या समाजवादी या साम्यवादी व्यवहारतः डिक्टेटरी की ओर जाते हुए नजर आ रहे हैं। वे इस बात की फिक्र में हैं कि राजनैतिक सत्ता के सूत्र कुछ चुने हुए आदमियों के, जो उन्हींकी पार्टी के हों, आ जावें !

फिर क्या किया जाय ?

सवाल बहुत मुश्किल है और हमारे लिए, जो व्यावहारिक राजनीति से कोसों दूर हैं, इसका सन्तोषजनक उत्तर देना असम्भव है। अपने क्षुद्र जीवन के अनुभवों के आधार पर हम इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि हमारा कल्याण विकेन्द्रीकरण के सिद्धांतों पर चलने से हो सकता है। विकेन्द्रीकरण नाम से डरने की जरूरत नहीं। छोटे-छोटे संघों का निर्माण तथा स्वेच्छापूर्वक उनका सहयोग, इसीको हम विकेन्द्रीकरण मानते हैं। विकेन्द्रीकरण की भावना के पीछे एक दर्शन-शास्त्र है और उसके मूल में साधारण जन के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान निहित

है। महात्मा गांधी की भावी सामाजिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चरखा तो विकेन्द्रीकरण का प्रत्यक्ष स्वरूप ही है। स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के लिए हमें छोटे-छोटे संघ कायम करने होंगे, वहां समानशील व्यक्ति साथ रहकर मेलजोल की नीति के अनुसार काम कर सकें। संख्या का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। शक्ति संख्या में नहीं है, बल्कि सामूहिक कार्य-प्रवृत्ति में है। ये समूह सर्वथा स्वतंत्रतापूर्वक भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार करें और उन विचारों को परिपक्व बनाकर साधारण जनता के सम्मुख रक्खें। उस अव्यवस्थित फौज से जिसके सिपाही भिन्न-भिन्न दिशाओं में मार्च कर रहे हों अल्पसंख्यक समानशील व्यक्ति कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध होंगे।

हमें उन नेता या वैद्य पर स्वभावतः अविश्वास करना चाहिए, जो सब मर्जों की एक ही दवा बतलाता हो। मस्तिष्क के कपाट हम बन्द क्यों कर लें? देश को सबसे अधिक इस समय विचारक की जरूरत है, जो वैज्ञानिकों की तरह बिलकुल ईमानदारी के साथ सामाजिक व्याधियों तथा उपाधियों का अध्ययन करें और अपना निदान जनता को बतलावें।

हमारे मुल्क को इस वक्त व्यापक शिक्षा की आवश्यकता है और वह सरल-से-सरल भाषा में और सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर मिलनी चाहिए। गरीब लोगों के पास इतना पैसा कहां है कि वे कीमती किताबें खरीद सकें? बहुत-कुछ प्रचार-कार्य हमें आने और दो-दो आने वाले ट्रेक्टों से लेना होगा। व्याख्यानों से, रेडियो-द्वारा प्रचार-कार्य से और ग्रामों में घूम-घूम कर मैजिक लैन्टर्न द्वारा लैक्चर देने से और कथाओं तथा सम्मेलनों की मदद से जनता शिक्षित की जा सकती है। मनुष्य के मस्तिष्क को मुक्त करना है और 'सा विद्या या विमुक्तये' इस प्राचीन सिद्धांत के अनुसार हमें प्रत्येक साधन द्वारा इसी उद्देश्य की ओर आगे बढ़ना चाहिए। कोरमकोर साक्षरता शिक्षा नहीं है। डिबेटिंग क्लबों में चाय की चुसकियों के साथ वाद-विवाद कर लेने से भी भावी युग निकट नहीं आ सकेगा।

प्राचीन आश्रम-प्रणाली का हमें उद्धार करना पड़ेगा। 'कम्यून' उसी का आधुनिक रूप है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि कम्यून प्रणाली को अंगीकार किये बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता। यदि उसमें कुछ दोष हों तो वे दूर किये जा सकते हैं। हम लोग सभी अपूर्ण हैं और इस बात की उम्मीद करना कि गौतम, कपिल, कणाद की तरह के ऋषि हमारे कम्यूनों में शामिल हों, महज हिमाकत है। अधूरे आदमियों को लेकर ही हमें अपने प्रयोग करने होंगे। पर इतना जरूर खयाल रखना होगा कि स्वच्छन्दता तथा स्वाधीनता दोनों अलग-अलग चीजें हैं। प्राचीनकाल के उन नियमों को जो मानव-कल्याण में सहायक हुए हैं, धता बता देना, केवल इसी आधार पर कि वे प्राचीन हैं, बुद्धिमत्ता नहीं है। किसी अंग्रेज कवि ने कहा था—

"अपने सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करो, दुहेरी जबान से मत बोलो।"

हम चाहते हैं कि इन छोटे-छोटे संघों के व्यक्ति अपने विचारों तथा आचारों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करें।

अन्य लोगों से कुछ भी कहने का अधिकार हमें नहीं है, पर लेखक बन्धुओं से हमें कुछ निवेदन करना है। इस समय स्वाधीन-चेता लेखकों की संख्या अधिक नहीं हो सकती। कारण यह है कि जीविका के लिए हम लोगों को दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। इसी वजह से "जिसका खावें उसका गावें" इस नीति का अनुगमन करने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं। आज तो हमारे अधिकांश पत्रकारों को विचारों की स्वाधीनता प्राप्त नहीं है और "गंगा गये गंगादास और जमना गये जमनादास" के सिद्धान्त को ही व्यवहार में लाने के लिए हम मजबूर हो रहे हैं। पर यह मार्ग मुक्ति का नहीं, बंधन का है।

हमें प्रलोभनों से बचना है। ऊंची तनख्वाहों और मोटर की सवारी के मोह को छोड़ना है। यद्यपि अभी तो हममें से ९९ प्रतिशत को पुष्टिकर भोजन के ही लाले पड़े रहते हैं, तथापि धन के प्रति हमारे मन में जो अत्युच्च

भावना है, वही दरअसल खतरनाक है। कबीर कोई एम.ए.,डी-लिट्. नहीं थे, न सम्पादकाचार्य, पर बात उन्होंने बड़े पते की कही थी—

"जो खाएगा चूपड़ी, सो बहुत करेगा पाप।"

भारतीय लेखकों के लिए बर्नार्ड शा का नहीं, ए० ई० जार्ज रसैल का दृष्टान्त अनुकरणीय है। ए० ई० की स्थायी आमदनी कुल जमा सवा-सौ रुपये महीने थी, यद्यपि वे आयरलैंड में उतने ही सम्मान-पात्र थे, जितने कवीन्द्र रवीन्द्र भारतवर्ष में।

दूसरा निवेदन हमें यह करना है कि हम मताग्रही न बनें। अपने विपक्षियों के प्रति भी हमें सहिष्णु होना चाहिए। जगत में जहां कहीं भी प्रकाश हो वहां से हमें उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ऋषि-मुनियों को उत्पन्न करने का ठेका केवल भारतवर्ष ने ही ले रक्खा था, यह विचार-पद्धति अत्यन्त संकीर्ण है। कार्ल मार्क्स की साधना किस ऋषि से कम थी? और महाप्राण बाकूनिन की तपस्या किस मुनि से कम?

महात्मा गांधी और क्रोपाटकिन, इन दोनों महापुरुषों की विचार-शैली में अद्भुत साम्य है। लेखकों का कर्तव्य है कि पाठकों को केवल एक ही प्रकार के विचारों से अवगत न करावें। शैवों तथा वैष्णवों जैसा पारस्परिक विरोध क्या साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी लाया जाना चाहिए?

तीसरी बात यह है कि हम केवल महापुरुषों के ही गुणगान करने की पद्धति को छोड़ दें। जिन्हें हम क्षुद्र समझते हैं उनमें भी अनेक अनुकरणीय गुण हैं। उन्हें प्रकट करना हमारा कर्तव्य है।

आज ऐटम बम के युग में भी क्या किसी को साधारण जन (कामन-मैन) के महत्व को बतलाने की जरूरत बाकी रह गई है?

चौथी बात यह है कि हम यथाशक्ति अपने सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें। हम यह मानते हैं कि यह कोई आसान काम नहीं है। यदि हम अभी कमजोर हैं तो अपनी कमजोरी को स्पष्टतया स्वीकार करके उसे दूर करने के लिए हमें दृढ़प्रतिज्ञ हो जाना चाहिए।

पांचवीं बात यह है कि हम श्रम-विभाजन की नीति से काम लें। सभी व्यक्ति राजनीति-विशारद नहीं बन सकते और न हमें ऐसे विषयों पर अपनी टांग अड़ानी चाहिए, जिनके बारे में हमारा ज्ञान नगण्य हो। जो लेखक एक अच्छा कोष तैयार करके जनता को देता है उसका काम राजनैतिक विषयों पर लेख लिखने वालों से कम थोड़े ही है, बल्कि कुछ अंशों में ज्यादा ही है और अच्छे अनुवादक का पद क्या मामूली मौलिक लेखकों से नीचा है? कोई भी छोटे-से-छोटा काम जिसे हम ईमानदारी से करते हैं, क्षुद्र नहीं है।

अन्त में हमें यही कहना है कि हम निराश हर्गिज न हों। जिस युग की हम कल्पना कर रहे हैं वह आज न सही कल, कल न सही परसों, और परसों न सही तो अतरसों जरूर आवेगा। बल्कि यों कहना चाहिए कि उस भावी युग का आगमन हम लोगों के विचारशील और कार्यशील मानव, समाज की साधना पर निर्भर है। हमारी उत्कट साधना ही उसको निकटतर ला सकती है। स्व० लाला हरदयालजी ने एक बात बड़े पते की कही थी। वह यह कि जिस युग की हम कल्पना करते हैं यदि उसके अनुसार रहना शुरू कर दें तो कम-से-कम हमारे लिए तो कुछ अंशों में वह युग आ ही गया समझो।

हमारे देश को कल्पनाशील विचारकों, स्वाधीन-चेता लेखकों और स्वप्नदर्शी कवियों की उतनी ही जरूरत है, जितनी राजनैतिक लीडरों की। आज जिन्हें हम स्वप्न मानते हैं कल वे मूर्तिमान होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो सकते हैं। स्वप्नों के आकाश में विचरण करना कोई बुरी बात नहीं, यदि हमारे पैर जमीन पर हों।

: ६ :

देश का साहित्यिक-सांस्कृतिक नवनिर्माण

महात्मा गांधी के शहीद हो जाने के दूसरे दिन ही आचार्य नरेन्द्रदेव ने ३१ जनवरी को लखनऊ रेडियो से भाषण देते हुए कहा था—

"जो भारतवर्ष के भविष्य के लिए सचेष्ट हैं, जो चाहते हैं कि उसकी उन्नत अवस्था हो, जो आज उसको पतन की अवस्था से बचाना चाहते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे संघबद्ध होकर, इस राजनीति के पचड़े को छोड़ना हो तो उसको भी छोड़कर इस देश में एक ऐसे जीते-जागते सांस्कृतिक आंदोलन का प्रचार करें, जिस आंदोलन के बल पर महात्माजी की शिक्षा इस देश में टिक सके।"

इसके पूर्व श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'हिमालय' के अक्तूबर '४६ के अंक में लिखा था——

"हम साहित्य को अपने जीवन में वह स्थान नहीं देते, जिसका वह हकदार है, हम साहित्य को एक फालतू चीज समझते हैं—फुर्सत की, तफरीह की चीज मानते हैं। साहित्य की इस उपेक्षा के लिए कुछ तो हम साहित्यिक खुद दोषी हैं——हम स्वयं अपने अस्तित्व का महत्व और गम्भीरता अनुभव नहीं करते——फिर हमारा यह युग राजनीति का युग है। कल तक हमपर बलिदान का भूत सवार था, आज प्रभुता की चुड़ैल सवार है।"

जहां आचार्यजी ने सांस्कृतिक आन्दोलन को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे उसके लिए 'राजनीति के पचड़े' को भी छोड़ देने के पक्ष में हैं, वहां श्री बेनीपुरीजी जीवन में साहित्य के गौरवपूर्ण स्थान को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक प्रतीत होते हैं, जहां आचार्य-जी राजनैतिक दलबन्दियों या वाद-विवादों को 'पचड़े' के नाम से पुकारते

हैं वहां बेनीपुरीजी सत्ता हड़पने की राजनीति को 'प्रभुता की चुड़ैल' बतलाते हैं। वास्तव में उपर्युक्त दोनों वाक्यों में देश के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शरीर को लगे हुए भयंकर रोग का निदान कर दिया गया है। अब प्रश्न यह है कि रोग दूर कैसे हो? प्रभुता की चुड़ैल देश के सिर से उतरे किस प्रकार? और सांस्कृतिक आंदोलन का संचालन किस ढंग से हो?

पहली बात जो हमें निवेदन करनी है वह यह है कि हम साहित्य तथा संस्कृति को किसी वाद-विशेष के सीमित दायरे में न बांधें। ये दोनों चीजें प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील हैं और ये किसी प्रकार का बंधन स्वीकार नहीं कर सकतीं। जो कोई भी दल, चाहे वह साम्यवादी हो अथवा समाजवादी या गांधीवादी, साहित्य और संस्कृति के गले अपनी साम्प्रदायिक कंठीघंटी बांधने का प्रयत्न करेगा, वह इन दोनों महान् वस्तुओं का कचूमर तो निकाल ही देगा, साथ ही वह अपने को उपहासास्पद भी बना लेगा।

दूसरी बात यह है कि हम इन चीजों को एक ही ढांचे में ढालने की फालतू कोशिश न करें। इस रंग-बिरंगी दुनिया से यदि हमने वैचित्र्य को नष्ट कर दिया और एकरसता लाने के लिए प्रयत्न किया तो स्पन्दनशील हृदय हमारे हाथ से निकल जायगा तथा शुष्क निर्जीव शरीर ही हमारे पल्ले पड़ेगा। विविध जनपदों के स्वतंत्र जनपदीय कार्यक्रम को स्वीकार कर लेने से ही इस वैचित्र्य की रक्षा हो सकती है।

तीसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि हम सम्पूर्ण साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों को केवल दो-एक स्थानों में ही केन्द्रित न कर बैठें। काम करने के दो तरीके हैं: एक तो यह कि हम प्रारम्भ में छोटे-छोटे साहित्यिक केन्द्र कायम करें और तत्पश्चात् उनके प्रांतीय अथवा अखिल भारतीय संघ का निर्माण करें। यह पद्धति वैज्ञानिक है और पहले नींव रखकर उसपर भवन बनाने की तरह सर्वथा स्वाभाविक भी है। दूसरी पद्धति है पहले अखिल भारतीय केन्द्र की स्थापना करके उसके द्वारा समस्त शक्तियों को संचालित करने की। इस ढंग से स्थानीय संस्थाओं का महत्व जाता रहेगा और वे केन्द्रीय संस्था की पुतली-मात्र रह जायंगी।

यही नहीं, इसका एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि राजनैतिक क्षेत्रों की तमाम बुराइयां केन्द्रीय संस्था में घुस पड़ेंगी और वह दलबन्दियों के दल-दल में जा फंसेगी ।

संक्षेप में हमारे मौलिक सिद्धांत ये हैं——

(१) साहित्य और संस्कृति को हम वाद-विशेष की चहारदीवारी में न बांधें ।

(२) इनके वैचित्र्य की रक्षा के लिए जनपदीय कार्यक्रम को पूर्ण-रूपेण अपनावें ।

(३) केन्द्रीकरण के बजाय विकेंद्रीकरण की नीति से काम लें ।

इन सिद्धान्तों के निश्चित कर लेने के बाद कार्यपद्धति का प्रश्न उपस्थित होता है । हमारा विश्वास है कि कोई भी सरकार किसी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन का विधिवत् संचालन कदापि नहीं कर सकती । किसी भी प्रगतिशील चीज का गठ-बंधन राज्य जैसी स्थायित्व-प्रेमी संस्था से नहीं किया जा सकता। इसलिए सरकारी सहायता लेते समय हमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए । हम स्वयं सरकारी सहायता को सर्वथा अवांछनीय मानते हैं, पर साथ-ही-साथ हमारा यह भी अनुभव है कि बड़े पैमाने पर काम करने के लिए वर्तमान परिस्थिति में सरकारी सहायता अनिवार्य है । सरकारी कन्ट्रोल को बचाते हुए यदि वह मिल सके तो कोई मुजायका नहीं ।

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक योजना बनाने का काम एक छोटी-सी कमेटी के सुपुर्द कर देना चाहिए । यह कमेटी जो योजना बनावे उसे हमें पहले देश की समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के सम्मुख रखना चाहिए और तत्पश्चात् प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के सामने भी । पर इस महायज्ञ को सफलतापूर्वक सम्पन्न वही कर सकते हैं जो राजनैतिक पचड़े से अपने को बचा सकें । जबतक चुनाव के रणक्षेत्र, जिनमें पार्टी के लम्बकर्णों को विरोधी दल के घोड़ों पर भी तरजीह दी जाती है, विद्यमान हैं और हमारे बड़े-से-बड़े नेता उन सब असांस्कृतिक

चालबाजियों का प्रश्रय लेते हैं, जिनका उपयोग निम्न श्रेणी के राजनैतिक कार्यकर्ता किया करते हैं, तबतक कोई भी सांस्कृतिक आंदोलन जड़ नहीं पकड़ सकता।

वर्तमान परिस्थिति में हमें ऐसी योजना उपस्थित करनी चाहिए, जो व्यावहारिक हो और जिसमें राष्ट्र-भाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न किया गया हो। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित प्रस्ताव उक्त कमेटी के सम्मुख रख सकते हैं—

(१) दक्षिण भारत की भाषाओं के अध्ययन के लिए दिल्ली में एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय।

(२) इम्पीरियल लाइब्रेरी की तरह की एक महान लाइब्रेरी स्थापित की जाय, जिसमें देशी भाषाओं के ग्रन्थ रहें और जहां से ये ग्रन्थ रुपया जमा कर देने पर उधार दिये जा सकें।

(३) भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अंग्रेजी विश्व-कोष जैसे सन्दर्भ ग्रन्थों के निर्माण के लिए सहायता दी जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित किया जाय।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा पत्रकारों के लिए सुविधाएँ दी जायं। विदेशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(६) प्रान्तीय सरकारों द्वारा जनपदीय कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) पत्रकार विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाय।

(८) देश के भिन्न-भिन्न पत्रकार-संघों को उनके महत्त्व के अनु-रूप समान रूप से सुविधाएं दी जायं।

(९) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो और साहित्यिक संग्रहालयों को सहायता दी जाय।

(१०) साम्प्रदायिकता का विष दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार

द्वारा एक संस्था की स्थापना की जाय।

(११) प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक मन्त्री अलग ही रक्खा जाय। साहित्य और कला-विभाग स्थापित हो। स्वर्गीय अरण्डेल ने अपने एक लेख में यह उपयोगी प्रस्ताव रक्खा था।

(१२) छोटे-छोटे सिपाहियों की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का एक विस्तृत इतिहास लिखाया जाय।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमें हल करना है वह यह है कि जिस संस्कृति का हम निर्माण करने जा रहे हैं वह ग्रामीण होगी या शहरी ? इस केन्द्रीय प्रश्न के हल होने पर ही हमारे सांस्कृतिक जीवन के अन्य प्रश्न निर्भर होंगे। यह विषय इतना व्यापक है कि विशेषज्ञ विचारक ही इसपर अधिकार-पूर्ण सम्मति दे सकते हैं।

१. हमारे राष्ट्र की आतमा का रूप क्या होगा ?

२. प्राचीन संस्कृति का कितना सुरक्षित हिस्सा रहेगा और नवीन संस्कृति की क्या-क्या बातें उसमें जोड़नी होंगी ?

३. शस्त्रास्त्रों की हिंसामयी बाढ़ में हमारी अहिंसा तथा अपरिग्रह की नौकाओं की रक्षा कहां तक हो सकेगी ?

४. इस महाद्वीप में जिन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम हुआ है उनको संघर्ष से कैसे बचाया जाय और उनमें समन्वय कैसे स्थापित किया जाय ?

५. क्या गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय सम्भव है ?

६. हमारा अनुमान है कि १० वर्ष के भीतर ही इस देश से निरक्षरता दूर हो जायगी और उस समय पाठकों की संख्या में कई करोड़ की वृद्धि हो जायगी। उनके लिए अभी से हमें कैसा साहित्य तैयार करना चाहिए ?

७. इस देश को डिक्टेटरी से कैसे बचाया जाय ?

जिस देश में 'तन मन धन गुसाईंजी के अर्पन' करने का सिद्धान्त सैकड़ों वर्षों से प्रचलित रहा हो और जहां गु डम के भक्तों के उर्वर हृदय-

क्षेत्र में उसके उगने तथा पनपने के पूरे-पूरे साधन उपस्थित हों, वहां इस खतरे को कैसे रोका जाय ?

इन सभी प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद ही योजना तैयार हो सकती है। तत्पश्चात् सच्चे साहित्यिक तपस्वियों तथा सांस्कृतिक मनीषियों को जुटाने का सवाल उठेगा। यह कोई आसान काम नहीं है।

वाल्मीकि और व्यास, अश्वघोष और कालिदास, कबीर तथा तुलसी, महात्माजी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की विचार-धाराओं से परिपूर्ण भागीरथी को भारत के ग्राम-ग्राम तक पहुंचने के लिए सहस्रों कार्यकर्ताओं की मनोवृत्ति को बदलने का कार्य क्या आसान है ? मानव-जीवन के लिए क्या चीजें महत्वपूर्ण हैं और क्या उपेक्षणीय और वास्तविक आनन्द किन वस्तुओं में हैं, साधारण जनता को यह समझाना अत्यंत कठिन कार्य है। प्रारम्भ में ही हमें ऐसे अनेक तपोवन और आश्रम स्थापित करने होंगे, जहां हमारे विशेषज्ञ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य कर सकें।

यद्यपि कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हें सरकारें ही आसानी से कर सकती हैं, तथापि यदि हम सरकारों के भरोसे बैठे रहें तो यह सांस्कृतिक महायज्ञ कभी भी पूर्ण न हो सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम लोगों में से जिसे भी जिस विषय की लगन हो, वह बिना किसी नेता का मुंह ताके अपने स्थान से उसका कार्य प्रारम्भ कर दे। परमुखापेक्षिता दुनिया का सबसे बड़ा पाप है। अपने विश्वासों तथा सिद्धान्तों के लिए मर मिटनेवाले व्यक्ति ही नवीन संस्कृति का निर्माण कर सकेंगे।

: ७ :

साहित्य में उपेक्षितों का इतिहास

जीवने यत पूजा होला ना सारा
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा
ये फूल ना फूटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हाराल धारा
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
——रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अर्थात्——"जीवन में जो पूजाएँ समाप्त नहीं हो सकीं, मैं ठीक जानता हूं, वे खो नहीं गई हैं, और जो फूल खिलने के पहले ही झड़ गया और जो नदी मरुभूमि में भटक गई, मैं ठीक जानता हूं, वे भी खो नहीं गये हैं।"

कई वर्ष से एक विचार हमारे मन में चक्कर काट रहा है और वह यह कि उन लेखकों तथा कवियों के रेखाचित्र तैयार किये जायं, जिनका जीवन संघर्षमय रहा है, साधनों के अभाव में जिनकी आकांक्षाएं जहां-की-तहां विलीन होती रही हैं और जो तमाम कठिनाइयों के बावजूद साहित्य-सेवा के दुर्गम पथ पर निरन्तर चलते रहे हैं।

आधुनिक दुनिया सफलता की पुजारी है और वस्तुतः वह असफल लोगों को उपेक्षा ही नहीं, घृणा की दृष्टि से भी देखती है। पर यह मनोवृत्ति अन्याययुक्त तो है ही, भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के विपरीत भी है। जिस देश के साहित्याकाश में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का मन्त्र अब भी गूंज रहा है और जहां स्वयं भगवान ने 'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनं' का आदेश दिया हो, वहां अपनी श्रद्धा

के समस्त फूलों को सफलों, शक्तिशालियों और साधन-सम्पन्नों की पूजा में ही बिखेर देना सर्वथा गलत है, अदूरदर्शितापूर्ण है और हमारे देश के भविष्य के लिए हानिकारक भी। सुप्रसिद्ध कवियित्री ईला विल-काक्स की वह कविता इस अवसर पर हमें याद आ रही है, जिसमें उन्होंने असफलों को श्रद्धांजलि अर्पित की है। उस कविता का सारांश यह है :

"कीर्त्ति के शिखर पर विराजमान विजयी वीरों का गुणगान तो बहुत हो चुका है, उनकी स्मृति में अनेक गीतों की रचना हो चुकी है, आज मैं उन निराश कवियों के गीत गाऊंगी, जो अपने लक्ष्य पर पहुंचने में असफल हो गये। आज मैं उस धनुर्धारी की स्मृति में चार आंसू बहाऊंगी, जो इस समय अन्धकार में खड़ा हुआ इस बात का अनुभव कर रहा है कि उसका अन्तिम और सर्वोत्तम तीर अपने निशाने पर नहीं पहुंच सका। मैं उन हृदयों के गीत गाऊंगी,जो एकान्त में टूटा करते हैं, जिनके दुखों को दुनिया नहीं जान पाती, जिन्हें साथी की जरूरत है, जिन्हें अपना पथ अकेले ही चलना पड़ता है।......मैं इस बात को जानती हूं कि इस सूर्यमंडल में कहीं-न-कहीं थोड़ा-सा स्थान, कुछ पुरस्कार, उस अभागे दौड़नेवाले के लिए भी सुरक्षित होगा, जो थक गया और जीवन की दौड़ में विजय आते-आते जिसके हाथ से निकल गई। ईश्वर का यह सृष्टिक्रम सचमुच ही अधूरा रह जायगा, यदि इसमें कहीं-न-कहीं उस परिश्रम, प्रतिभा तथा प्रेम के लिए, जो इस संसार में बिना किसी आदर के नष्ट हो जाते हैं, कोई पुरस्कार सुरक्षित न हो।"

हमारे इतिहासों में—चाहे वे राजनैतिक हों या साहित्यिक—एक बड़ी भारी त्रुटि यह है कि वे प्रायः विज्ञापितों को ही विज्ञापन देते रहे हैं! जिस कवि ने यह रचना की थी—

सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास,
अबके कवि खद्योत-सम जहं-तहं करत प्रकाश।

उसे यह पता नहीं था कि अनेक तारागण वस्तुतः सूर्य और चन्द्र से कहीं अधिक बड़े हैं और खद्योतों का भी अपना निजी महत्व है।

अब इस दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हो जाना चाहिए । खगोलशास्त्र, भौतिक विज्ञान और अर्थशास्त्र में अब क्षुद्र-से-क्षुद्र को महत्व दिया जा रहा है। पहले के ज्योतिषी पृथ्वी को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, तत्पश्चात् सौरमंडल सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा और अब खगोलशास्त्रियों की दृष्टि में परमाणुओं को ही सबसे अधिक महत्व दिया जाता है । अणु-बम की कथा तो अब जगत-विख्यात है। मनोविज्ञान में भी अब क्षुद्रतम कोष (सेल) को महत्व देते हैं और अर्थशास्त्र तो अब ग्रामीणों की झोंपड़ियों तक पहुंच ही चुका है । अर्थशास्त्री अब एक-एक ग्राम पर निबन्ध लिखते हैं। ऐसी दशा में इतिहास तथा साहित्य-क्षेत्र ही इस प्रगतिशील दृष्टि से क्यों वंचित रहे ? हमारे साहित्यिक पूर्वजों अथवा समकालीन बन्धुओं ने जो साहित्यिक इतिहास लिखे हैं, तदर्थ हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं । मिश्रबन्धु, पं. रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास इत्यादि के पथ-प्रदर्शक ग्रन्थों की महान उपयोगिता से कौन इन्कार कर सकता है ? पर अब युग बदल रहा है – बल्कि बदल गया है – और इतिहास लिखने की प्रणाली में भी अब परिवर्तन अनिवार्य है। अब हमें अपने ऐतिहासिक भवन की नींव नीचे से रखनी होगी। प्रान्त-प्रान्त के ही नहीं, प्रत्येक जनपद और जिले तथा स्थान के साहित्य का ऐतिहासिक अन्वेषण करना होगा। असफलों तथा उपेक्षितों का इतिहास हमारे साहित्य के भविष्य के लिए भी लाभदायक होगा; क्योंकि तब हम भूतकाल से शिक्षा ग्रहण कर अपनी मातृभाषा के होनहार लेखकों तथा कवियों का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे ।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास लिखने की उस दूषित प्रणाली के लिए, जिसमें पहले राजाओं को और अब नेताओं, सेनापतियों तथा पदाधिकारियों को आवश्यकता से कहीं ज्यादा महत्व दिया जाता है, हमीं लोग जिम्मेदार हैं। इतिहास लिखने का यह ढंग बिलकुल अवैज्ञानिक है और पूर्णतः हानिकारक भी । जन-साधारण में वह दासत्व की भावना उत्पन्न करता है । जिस समय भगवान वेदव्यास ने गीता में

लिखा था–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

अर्थात्–"श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, साधारण जन उसीका अनुसरण करता है। वह जिस चीज को प्रमाण मानता है, लोक उसीका अनुवर्त्तन करता है।" उस समय भारत में कोई समाचार-पत्र नहीं थे और श्रेष्ठ का अर्थ 'विज्ञापन' हर्गिज नहीं था। आजकल जिस प्रकार राजनैतिक नेताओं को विज्ञापन दिया जाता है, उनके जुलूस निकाले जाते हैं, उनके छींकने तक की रिपोर्ट अखबारों में छपती है, उससे जनता का दृष्टिकोण ही विकृत हो गया है। और जो चीज आज पत्रों में छपती है, कल वही इतिहास बन जाती है! पर संसार में राजनीति ही सबकुछ नहीं है। करोड़ों व्यक्ति इस जगत् में रहते हैं। वे लाखों ही कार्य परोपकार के करते हैं। यह दुनिया उन्हीं के आधार पर कायम है, पर उनकी रिपोर्ट पत्रों तक नहीं पहुंचती। हिन्दी-संसार में सैकड़ों ही लेखक अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने कार्य में संलग्न हैं। उनकी ओर हम लोगों का ध्यान प्रायः बिलकुल नहीं है। कालेजों में पढ़ाये जानेवाले इतिहास में उनका जिक्र हो ही नहीं सकता। जिस शिकंजे में कसकर ये इतिहास लिखे जाते हैं, उसमें सहृदयता को कोई स्थान ही नहीं। 'हृदय' नामक चीज को हमारे ये इतिहास-लेखक बिलकुल फालतू समझते हैं और 'भावुकता' को सर्वथा त्याज्य। इसलिए जिसे नवीन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना हो, उसे पाठ्य-पुस्तक बनाने के प्रलोभन को सर्वथा तिलांजलि ही दे देनी पड़ेगी।

साहित्य का इतिहास अब सर्वदा स्वतंत्र रूप से छोटे-छोटे केन्द्रों द्वारा होना चाहिए। उदाहरण के लिए आगरे-ज़िले के साहित्यिक इतिहास में श्री लल्लूजीलाल, राजा लक्ष्मणसिंह और पं. रामेश्वर भट्ट तथा सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि का तो पूरा-पूरा वृत्तान्त होना ही चाहिए, वहां के खयालगो लोगों–रूपकिशोर, पन्नालाल प्रभृति–की भी साहित्य

सेवा का विस्तृत उल्लेख आवश्यक है। यही नहीं, हम तो ग्राम-गीतों के गायकों का भी ज़िक्र जरूरी समझते हैं। ब्रिटिश सरकार ने जिस प्रकार प्रत्येक ज़िले का गज़ेटियर तैयार कराया था, क्या उसी प्रकार हम प्रत्येक ज़िले का साहित्यिक इतिहास तैयार नहीं करा सकते? और यह इतिहास संकुचित दृष्टिकोण से नहीं, व्यापक दृष्टिकोण से तैयार होना चाहिए। आगरे के साहित्यिक इतिहास से यदि नज़ीर अकबराबादी को छोड़ दिया जाय तो वह अधूरा ही माना जायगा। ज़िले के इतिहासों में हमें यह मानकर ही चलना चाहिए कि उर्दू हिन्दी की एक शाखा ही है।

और हमारे इन इतिहासों में यदि हृदय का स्पन्दन न हुआ तो वे निर्जीव ही सिद्ध होंगे। आज भी ताजमहल के पास धांधूपुर ग्राम से एक ध्वनि निकल रही है– **'भयौ क्यों अनचाहत को संग।'** पर जिनके हृदय का रेडियो खराब हो चुका है, वे उसे कैसे सुन सकते हैं? अभी कुछ समय पूर्व की ही तो बात है, एक कवि ने रात्रि के समय गुनगुनाया था :

अब तो जीवन में कोई भी आकर्षण न रहा
सूख गईं सुख की वल्लरियां
कुम्हलाईं कलवाली कलियां
समझे कौन बड़ी हलचल को
डूब रहे हम आज विकल हो
त्राण दिलाने वाला, अब तो कोई तृण न रहा।

और इन पंक्तियों को लिखने के सोलह घंटे बाद ही उसने आत्मघात कर लिया।[1]

आज से दस वर्ष पहले लश्कर (ग्वालियर) के अस्पताल में एक हिन्दी कवि के पेट का आपरेशन हुआ था और उसीमें उनका देहान्त हो गया। किसी भी पत्र ने उनके विषय में कुछ लिखा ही नहीं! उस कविवर की वर्षों की साहित्य-साधना उसीके साथ विलीन हो गई! स्वर्गीय

---

[1] ये पंक्तियां स्वर्गीय शील चतुर्वेदी नामक युवक कवि की हैं, जिन्होंने आत्मघात करके अपने जीवन का अन्त कर डाला था।

सीतारामजी 'साधक' की दो-चार कविताएँ मेरे पास सुरक्षित हैं। उनकी लिखी 'अतीत की स्मृति' आप भी सुन लीजिये—

जो तारे झिलमिल-झिलमिल कर देखा करते थे सपने,
जिन्हें देखकर मेरी भी, सखि, पलकें लगती थीं झँपने !
वह भी कहां रहे अपने !
वह मधुऋतु की मादक संध्या, वह चांदी-सी उजली रात,
वह किरणों का जाल मनोहर, वह सोने का मधुर प्रभात
जाने कहां गये अज्ञात !
सुन विहँगों की मधुर प्रभाती, निरख उषा की मृदु लाली,
जो मालिन ले जाती थी कुसुमों से भर-भर कर थाली !
आज खड़ी है वह खाली !
जिसे कभी मधु के प्यासे अलि, कुसुमों के प्यालों से पी,
मरते-मरते एक बार नवजीवन पा उठते थे जी !
ढुलक गई वह मदिरा भी !
वह पत्रों की मर्मर ध्वनि, सखि, वह कोयल का पंचम स्वर,
कल-कल स्वर से बहता रहता था जो सूने में निर्झर !
बन्द हुआ उसका भी स्वर !
क्या न कभी फिर से आयेगी फिर से कोयलिया काली ?
क्या न कभी आकर कूकेगी उपवन में जीवन-लाली ?
कौन जानता है आली !

अभी दो वर्ष पूर्व समथर-राज्य के एक ग्राम-निवासी कवि की मृत्यु के समय उनके हाथ का लिखा हुआ एक पत्र, जो पद्य में था, मेरे नाम पाया गया—

जैसी अबै लौं कृपा करी दीन पै, या से भविष्य में दूनी बतइयो।
जो अपराध भये मुझ ' इतै ताकी हू भल न चित्त में लइयो॥
औगुण कौ हृदयौ तो कहावत आप बड़े करुणा को दिखइयो।
आशा मेरी कर दीजियो पूरण एक किताब अवश्य छपइयो॥

आप जरा कल्पना कीजिये उस गरीब कवि की, जिसकी एक भी पुस्तक अपने जीवन में नहीं छपी और जो मरते समय अपनी यही अन्तिम आकांक्षा प्रकट करता है कि उसकी कम-से-कम एक किताब तो किसी तरह छप जाय ! और इस कवि को सात रुपये महीना मिलता था और उसकी वह नौकरी भी छूट गई थी। उसका नाम था श्री देवीदयालु गुप्त, और मरते समय उनकी उम्र ३५ वर्ष के करीब होगी। बन्धुवर हरि-शंकरजी शर्मा ने उनकी एक पुस्तिका 'बुन्देलखंड' का संशोधन करके मेरे पास भेज दी थी और वह सौभाग्य से प्रकाशित हो गई है।

मैंने इस समय बुन्देलखंड के ही उदाहरण दिये हैं, क्योंकि मेरे क्षुद्र जीवन के अनेक वर्ष इसी जनपद में बीते हैं। और तो और स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी के समस्त ग्रन्थों को एक जिल्द में हम लोग नहीं छाप सके। कविवर रसिकेन्द्रजी का काव्य-संग्रह नहीं छपा और कविवर घासीरामजी व्यास की सर्वोत्तम कवितायें भी संग्रहीत नहीं हुईं। किसी निष्पक्ष साहित्यिक की तराजू पर इन कवियों की—मेरा अभिप्राय मुन्शीजी, रसि-केन्द्रजी तथा व्यासजी से है—रचनाएं हिन्दी के अनेक विज्ञापित कवियों की रचनाओं से अधिक गम्भीर ही बैठतीं; पर साहित्य-जगत् ने इन लोगों की प्रायः उपेक्षा ही की और उनके परिचितों अथवा भक्तों द्वारा भी वे प्रायः विस्मृत ही हो गए ! यदि हम लोग इतना भी कर सकते कि इन कवियों के संस्मरणों का संग्रह करके प्रकाशित कर देते, साथ में उनकी सर्वोत्तम रचनाओं के कुछ उदाहरण भी दे देते, तो हिन्दी-संसार उनकी अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं से कुछ तो परिचित हो जाता।

सुप्रसिद्ध कल्पनाशील अंग्रेज़ लेखक एच. जी. वेल्स ने अपनी पुस्तक 'दि शेप आव थिंग्स टु कम' (भावी संसार का रूप) में सन् दो हजार ईस्वी के बाद साहित्यिकों के सुपुर्द यह काम किया है कि वे अनुसंधान करके गत पीढ़ियों की मानसिक अवस्था का चित्र तैयार करें। क्यों न हम लोग पचास वर्ष पहले से ही उस महान कार्य को प्रारम्भ कर दें ? यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है : एक तो सन् १८५७ से लेकर १९४९ तक के

साहित्यिकों के जीवन-चरित, रेखाचित्र, पत्रव्यवहार इत्यादि के द्वारा पिछले सौ वर्षों का सजीव इतिहास तैयार किया जाय और दूसरे वर्त्तमान साहित्य-सेवियों की मनोदशा का पूरा-पूरा विवरण रखा जाय। दुर्भाग्य की बात है कि हम लोगों ने कितने ही अमूल्य अवसर अपने हाथ से चले जाने दिये। इनमें हमारा प्रमाद, संकोच और अदूरदर्शिता, ये सभी कारण रहे हैं।

यह हमारी गुलामी की विरासत ही है कि आज भी हमारा दृष्टिकोण राजनैतिक दलबन्दियों, चुनावों, पदों के लिए झगड़ों और तिकड़मबाजियों से विकृत बना हुआ है। अब इस संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक बनाना है। जीवन के विविध अंगों, विभिन्न आकांक्षाओं, शुभ संकल्पों और पुण्य कार्यों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना है। बिना श्राद्ध-कर्म किये जो लोग भोग करते हैं, वे वास्तव में पाप करते हैं। सन् १९६५ में राष्ट्रभाषा के पद पर पूर्णरूपेण आसीन होने के पूर्व हमारी भाषा के उपेक्षित साहित्यिकों का इतिहास तैयार हो जाना चाहिए। जिस किसी महान साहित्यिक का जीवन-चरित हम लिखें, उसके समकालीन व्यक्तियों के भी छोटे-मोटे रेखाचित्र उसीके साथ देते जायं।

यदि हम लोग इस उम्मीद में बैठे रहे कि बड़ी-बड़ी संस्थाएँ या नामी-गरामी लेखक या दिग्गज पत्रकार ही इस कार्य को उठावेंगे तो यह कार्य कभी भी सम्पन्न नहीं होगा। गंगामाता गंगोत्री से निकलती है और जमना-मैया जमनोत्री से। पर इस साहित्य-गंगा का उद्गम-स्थल भावनापूर्ण तथा श्रद्धायुक्त हृदय ही हैं, और वे इस विस्तृत भूमि के किसी भी जनपद में पाये जा सकते हैं। यदि विभिन्न जनपदों के निवासी हिन्दी-लेखक, कवि और पत्रकार इस बात का निश्चय कर लें कि हम अपने स्थान या जिले के विस्मृत अथवा उपेक्षित साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का भरपूर उद्योग करेंगे तो पास-पड़ोस के पत्रों, प्रकाशकों और साहित्यप्रेमी व्यक्तियों से उन्हें सहायता मिल ही जायगी। साप्ताहिक पत्रों के साहित्यिक कालमों, मासिक पत्रों, विशेषांकों और अभिनन्दन-ग्रन्थों का उपयोग इन पुण्य कार्यों के लिए हो सकता है।

हमें प्रान्तीय, जनपदीय और निजी संग्रहालयों के महत्व को जनता को समझाना है। पुरानी चिट्ठियों, समाचार-पत्रों और डायरियों की रक्षा का कार्य तो हमें तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए। बिना इन चीजों की मदद से हमारे इतिहास बिलकुल शुष्क और निर्जीव बने रहेंगे। ये चीजें दिनोंदिन नष्ट होती जा रही हैं। बन्धुवर हरिशंकर शर्मा के यहां श्रद्धेय नाथूराम 'शंकर' के ज़माने का जो बहुत-सा पत्र-व्यवहार सुरक्षित था, वह नष्ट हो गया। सुना है कि स्व. राधाचरणजी गोस्वामी के संग्रहालय का पत्र-व्यवहार भी सुरक्षित नहीं रह सका! अभी कुछ वर्ष पूर्व तक 'भारतमित्र' की पुरानी फाइलें सुरक्षित थीं। पर अब एक महानुभाव ने उन्हें नष्ट करके रद्दी में फेंक दिया! अभी हमने किसी पत्र में पढ़ा था कि डाक्टर जान्सन के जीवन-चरित के लेखक बौसवेल का बहुत-सा पुराना पत्र-व्यवहार मिल गया है और विलायत में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना मानी जाती है। उधर रूस में तुर्गनेव तथा चैखव और टाल्स्टाय की कुछ चिट्ठियां मिली हैं और उनका ज़िक्र लन्दन के 'टाइम्स' के साप्ताहिक संस्करण में किया गया है। हमारे यहां इस प्रकार के अनुसंधान-कार्य का शायद श्रीगणेश ही नहीं किया गया है।

युग-धर्म के अनुकूल हमें अपने साहित्यिक जीवन की फिलासफी में भी परिवर्त्तन करना है। कौन कहता है कि आप कवीन्द्र रवीन्द्र की उपासना न करें? और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो हम सभी के लिए पूज्य हैं ही। हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि हम साहित्याकाश के विधिवत् अध्ययन के लिए अपनी दूरबीन को भी अच्छा बनावें। महात्मा गांधी ने छोटी-सी तकली में बड़ी-बड़ी मिलों के दर्शन किये थे। उन्होंने अपने १ अगस्त, १९४१ के भाषण में, जो सेवाग्राम में दिया गया था, कहा था—"तकली में जो अपार शक्ति भरी है, उसका ज्ञान मुझे एक अंग्रेज ने कराया। उसका नाम जीन्स है। वे एक बड़े खगोलशास्त्री थे और उन्होंने बहुतसी किताबें लिखीं हैं। उन्होंने 'यूनीवर्स इन द एटम' नाम की एक किताब लिखी है। उसमें से मैंने 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का वैज्ञानिक वर्णन पढ़ा, तब मैं हैरान

हो गया। हमारे लिए तकली एक एटम है। उसीके अन्दर मिल भरी पड़ी है, और जो चीज मिल सिखा सकती है, वह तकली भी सिखा सकती है।"

इसी सिद्धांत से छोटे-से-छोटे साहित्य-सेवी की आकांक्षाओं में भी हम समस्त हिन्दी-जगत् के भविष्य का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं, यदि हममें सहृदयता, विवेक और सूक्ष्म दृष्टि हो। हमने सुना है कि महात्माजी बड़ी-बड़ी नदियों के बांध बनवाने और उनसे नहर निकालने के उतने पक्षपाती नहीं थे, जितने कि ग्राम-ग्राम में तालाब बनवाने के। भले ही लोग साहित्य के बड़े-बड़े बांध काशी, प्रयाग, पटना, कलकत्ता इत्यादि स्थानों में बनवावें उनकी उपयोगिता से हमें इन्कार नहीं, पर हम तो साहित्य-सरोवर के पक्षपाती हैं। ये साहित्यिक पुष्करणियां स्थान-स्थान पर कायम हो सकती हैं और आसपास के जीवन को सरस तथा हरा-भरा बना सकती हैं। हमारे विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूल इस दिशा में बहुत काम कर सकते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि प्रत्येक 'साहित्यरत्न' अथवा एम. ए. (हिन्दी) के विद्यार्थी से पहले उसके जिले या जनपद के साहित्यिक इतिहास पर एक निबन्ध लिखा लिया जाय और तत्पश्चात् उसे डिग्री प्रदान की जाय। यदि हमारे हिन्दी-प्रोफेसरों तथा अध्यापकों का ध्यान इस प्रश्न की ओर आकृष्ट हो जाय तो पांच-सात वर्षों में ही हिन्दी के अनेक उपेक्षित लेखकों तथा कवियों के जीवन-चरितों अथवा रेखाचित्रों का मसाला इकट्ठा हो सकता है। सच्ची संस्कृति बड़े-बड़ों की पूजा करने में उतनी नहीं, जितनी छोटे-छोटों को प्रोत्साहन देने में है। सच्चे फिलासफर वही हैं, जो बूंद में समुद्र का दर्शन कर सकते हैं और दरअसल विनम्र वही हैं, जो असफलों का अभिनन्दन करने में गौरव का अनुभव करें।

: ८ :

कण्ठ की स्वाधीनता

(१)

किसी भी सजीव पत्रकार या लेखक के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दो शब्दों में दिया जा सकता है–'कण्ठ की स्वाधीनता।' और यह सबसे ज्यादा दुर्लभ भी है। इंग्लैंड-जैसे स्वाधीनता-प्रेमी देश में भी एक दर्जन से भी कम पत्रकार ऐसे निकलेंगे जिनका कण्ठ स्वाधीन हो। "जिसका खाना उसका गाना" ही जिनके जीवन का आदर्श वाक्य है, उनका ही बाहुल्य इस वृत्ति में है।

पत्रकारिता वृत्ति है या मिशन ? इस विवादग्रस्त प्रश्न को यहां उठाने की जरूरत नहीं और न हमें उन भाइयों पर जज बनकर बैठना है जिन्हें मजबूरन पत्रकारिता को पेशे की तरह अंगीकार करना पड़ा है। यह भी हम जानते हैं कि मानव-जीवन में पग-पग पर समझौते करने पड़ते हैं और अनेक बार ऐसे अवसरों पर भी मौन रहना पड़ता है जब खुलकर बोलना ही अपना प्रथम कर्त्तव्य है। पर अपना कल्याण इसी में है कि हम दम्भ न करें –

ऐब यह कि करो ऐब हुनर दिखाओ,
वर्ना यों ऐब तो हर फर्दोबशर करते ह।

कण्ठविरोध के अभिशाप को हम भली-भांति जानते हैं और उसके दमघोंटू वातावरण में हमें अनेक वर्ष रहना पड़ा है। राजाश्रय में रहने वाला कोई भी लेखक, चाहे वह आश्रय सुसंस्कृत-से-सुसंस्कृत शासक का क्यों न हो—कण्ठ की स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकता। ऐसे अवसर आते हैं, जब किसी अंग्रेजी कवि की यह उक्ति याद आती है—"जब सत्य की

बलिवेदी पर जीवन-दान ही मनुष्य का कर्त्तव्य हो, उस समय जीवन-रक्षा ही नर्क है।"

जब भीष्म पितामह को भी 'अर्थस्य पुरुषो दासः' (आदमी रुपये का गुलाम है) कहकर द्रौपदी के चीर-हरण के समय मौन रहना पड़ा तो फिर हमारे-जैसे क्षुद्र पत्रकार को यदि समझौता करना पड़े तो उसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। पर हमें वही आदर्श अपनी आंखों के सम्मुख रखना चाहिये, जिसमें अन्तरात्मा की ध्वनि को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया हो।

पत्रकार-शिरोमणि नैविनसन की तरह के जर्नलिस्ट विलायत में भी थोड़े ही हुए हैं। अपने कण्ठ को उन्मुक्त रखने के लिए नविनसन और ब्रेल्सफोर्ड मैसिंघम तथा ए. जी. गार्डिनर को काफी तपस्या करनी पड़ी। स्वयं भारतवर्ष में मोतीलाल घोष, रामानन्द चटर्जी, सी. वाई. चिन्तामणि, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी को इस स्वाधीनता के लिए अनेक कष्ट सहने पड़े।

सुना है कि स्व. मोतीलाल घोष ने तत्कालीन प्रिंस ऑव वेल्स से कह दिया था—"देश में एक पत्रकार तो ऐसा रहने दीजिये, जो आपके देशवासियों के शासन की निष्पक्ष तथा खरी आलोचना कर सके।" चिन्तामणिजी ने बम्बई के 'डेली मेल' का सम्पादन विचारों की स्वाधीनता के लिए ही छोड़ दिया। बालमुकुन्द गुप्त की नौकरी श्रीमान् कालाकांकर-नरेश ने इसलिए छुड़ा दी थी कि वह 'हिन्दुस्थान' में सरकार के खिलाफ बहुत लिखते थे। खुदीराम बोस के विषय में भाषण देने पर भट्टजी से जवाबतलब किया गया और उसीपर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। स्व. रामानन्द बाबू ने तो जीवन-भर अपने स्वाधीन विचारों की रक्षा की और इस विषय में उनका उदाहरण केवल भारत के ही नहीं, विश्व के सम्पादक-समुदाय में एक अत्युच्च स्थान पायेगा। द्विवेदीजी तथा गणेशजी के महान् कार्यों से हिन्दी पाठक भली-भांति परिचित ही हैं।

जनतन्त्र के विधिवत् संचालन के लिए यह निहायत जरूरी है कि उन्मुक्त कण्ठवाले पत्रकार इस देश में अधिक-से-अधिक हों। जिनके हाथ

में सत्ता है उनका समर्थन करनेवाले व्यक्ति तो बहुत मिल जाते हैं, पर "अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।" इसके सिवाय जब अपना देश गलत रास्ते पर जा रहा हो उस समय देश के नेताओं का विरोध करने की शक्ति अल्पसंख्यक व्यक्तियों में ही हो सकती है। धार के साथ बहने में कुछ श्रम नहीं पड़ता, जबकि धार के विरुद्ध दो-चार हाथ भी आगे बढ़ना हिम्मत का काम है। नैविनसन में वह हिम्मत थी, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज में वह साहस था।

बहुमत सदा ठीक ही हो, ऐसी बात नहीं। प्रायः वह गलत भी होता है और बहुमत का विरोध करनेवाले को अपनी छीछालेदर के लिए तैयार रहना ही चाहिए। यही गनीमत है कि उसका सिर न फोड़ दिया जाय। ठीक मार्ग पर जानेवाले अल्पसंख्यकों का साथ जो नहीं दे सकते वे वस्तुतः दास-मनोवृत्ति के हैं।

तानाशाही में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति कण्ठ की उन्मुक्तता कदापि सहन नहीं कर सकते। उनकी समझ में हर व्यक्ति बिक्री के लिए है और खरीदा जा सकता है।

इस दुनिया में बहुत-से दृश्य करुणोत्पादक हैं, पर उन सबमें सबसे हृदयवेधक दृश्य उपस्थित करता है वह पत्रकार, जिसने अपने पापी पेट के लिए किसी को अपनी कलम बेच दी हो। जिन देशों में तानाशाही विद्यमान है वहां कण्ठ की उन्मुक्तता सर्वथा अप्राप्य है।

एक बार किसी सुप्रसिद्ध पत्रकार ने, जो एक मनचले पूंजीपति के किसी पत्र में काम करते थे, अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध अछूतोद्धार के विपक्ष में लेख लिख दिया था। गांधीजी उनसे भली-भांति परिचित थे। उन्होंने पत्रकार महोदय को बुलाकर कारण पूछा तो उन्होंने अपनी कमजोरी स्वीकार करते हुए कहा—"क्या किया जाय, पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है।"

इसपर महात्माजी ने कहा—"इस आत्मविघातक पत्रकारिता को छोड़कर इस महानगर की गलियों में भीख क्यों नहीं मांग लेते? यह कार्य

अपेक्षाकृत कम अगौरवजनक होगा।"

एक ऐसे ही अन्य पत्रकार-बन्धु ने जब महात्माजी से कहा "बापू, मुझे जिन्दा तो रहना है" तो उन्होंने उत्तर दिया-"किसलिए ?" उनका अभिप्राय यही था कि ऐसी जिन्दगी से मौत बेहतर है।

जिन पत्रकारों से यह उम्मीद की जाती है कि वे देश की जनता का उचित रूप से पथ-प्रदर्शन करें, उनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई उचित प्रबन्ध इस देश में नहीं है। इंजीनियर बनने के लिए लोग कई वर्ष तक अध्ययन करते हैं, डाक्टरी भी ५-६ वर्ष पढ़ाई जाती है, पर सम्पादक 'जन्म-ज़ात' और 'स्वयंभू' होते हैं। ऐसे पत्रकार यदि 'क्षुद्रत्व की भावना' के शिकार हों तो उसमें आश्चर्य ही क्या !

वैसे तो प्रत्येक प्रभावशाली पत्र के कार्यालय में पत्रकार-कला-सम्बन्धी साहित्य होना चाहिए; पर यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक प्रान्त में एक पुस्तकालय तो ऐसा होना चाहिए, जिसमें इस विषय का पूरा-पूरा मसाला मिल सके। हमारी वृत्ति या मिशन के अनुयायियों ने सत्य के पथ पर चलते हुए किन-किन कठिनाइयों का सामना किया, यह बात हमारे लिए बहुत स्फूर्तिप्रद हो सकती है। जिस पत्र के आफिस में संपादकाचार्य सी. पी. स्काट अथवा रामानन्द चट्टोपाध्याय या गणेशशंकर विद्यार्थी के जीवन-चरित न हों, उसे हम अपूर्व ही मानेंगे। त्याग और बलिदान के दृष्टांत हमें प्रोत्साहन प्रदान करेंगे। कंठ की उन्मुक्तता के लिए जिन पत्रकारों ने अनेक कष्ट सहे, उनके उदाहरण हमें अपने कंटकाकीर्ण पथ पर चलने में सहायक होंगे। देश को स्वाधीन-चेता पत्रकारों की जितनी आवश्यकता आज है उतनी पहले कभी न थी।

(२)

आज के युग का तकाजा है सहस्रों सजीव केन्द्रों का निर्माण। दुनिया के दो अरब आदमियों की चि भी भिन्न-भिन्न होनी ही चाहिए और जगत् का कल्याण इसीमें है कि मनुष्य अपनी रुचि के आदमियों के साथ रहे। रुचि और उद्देश्यों की विभिन्नता के कारण इन केन्द्रों में संघर्ष भी

अनिवार्य है; पर ये संघर्ष जिन्दगी के लक्षण के रूप में माने जाने चाहिएं। वैसे इन केन्द्रों का संघ इनमें पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न कर ही देगा।

हम लोगों के लिए, खास तौर पर लेखकों के लिए, इससे अधिक दयनीय स्थिति हो ही नहीं सकती, जबकि हमें अपने विचारों, इच्छाओं, उद्देश्यों तथा सिद्धांतों के प्रतिकूल वायुमंडल में काम करने के लिए मजबूर होना पड़े। महाकवि तुलसीदास ने कहा है—"चोर नारि जिमि प्रकट न रोई" और आज हम लोगों में से अधिकांश की स्थिति 'चोर नारि' की तरह की हो गई है। इस लज्जाजनक परिस्थिति से लेखकों और पत्रकारों को निकलना है और इसका एकमात्र उपाय यह है कि हम अपने आपको स्वस्थ, सजग और चारों ओर की परिस्थिति तथा वायुमंडल के प्रति खुला रक्खें। शारीरिक क्षय की तरह आत्मा का भी क्षय हुआ करता है और उन्मुक्त वातावरण में विचरण करना शरीर तथा आत्मा दोनों के लिए कल्याणकारी है।

किसी भी सजीव साहित्यिक के लिए साहित्य और राजनैतिक नाम की दो चीजें अलग-अलग हो ही नहीं सकतीं। इनमें भेद करना जीवन को एकांगी बना देना है। रोम्यां रोलां ने एक जगह लिखा है—

"जो कोई मानव-समाज के भविष्य के लिए युद्ध करना चाहता है उसे राजनैतिक क्षेत्र में युद्ध करना चाहिए, पर अपने मस्तिष्क की स्वाधीनता को किसी भी हालत में न छोड़ना चाहिए, क्योंकि मानसिक स्वाधीनता ही उसे युद्ध-क्षेत्र पर हावी बनाये रखेगी।"

पर 'मानसिक स्वाधीनता' कोई ऐसी चीज नहीं, जो आसानी से मिल सके। इसके लिए निरन्तर त्याग, तप और संघर्ष की जरूरत है। दुनिया में आज अनेकों शक्तियां ऐसी पाई जाती हैं, जो जबरदस्ती सबको अपने ढंग पर ढालने में ही विश्व-कल्याण मानती हैं। उन शक्तियों से समझौता करके—अपने आपको बेचकर—कोई भी लेखक मजे में अपनी जिन्दगी गुजर कर सकता है, पर वह जीवन घासफूस की तरह का होगा।

विचारों की स्वाधीनता को हम सबसे उच्च स्थान देते हैं। लक्ष्य हमारा यही होना चाहिए कि जो भी हम उचित समझें उसे दृढ़तापूर्वक कह और लिख सकें। लेखक में आवाज की बुलन्दगी या 'टोन' की सच्चाई का अभाव वैसा ही है जैसे नमक में से नमकीनपन का निकल जाना! किसी पार्टी-विशेष में शामिल होने के मानी हैं अपने मुंह पर ताला लगा लेना।

कोई भी सरकार, चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी, विचारों की स्वाधीनता को एक खास सीमा तक ही सहन कर सकती है, इसलिए प्रत्येक सजीव लेखक को बरबस राजनैतिक क्षेत्र में आना ही पड़ेगा। जो भी लेखक अनाचारों तथा अत्याचारों के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करेगा, उसे जान-बूझकर लड़ाई मोल लेनी पड़ेगी। जो भी लेखक संघर्ष से अपने को बचाना चाहेगा, वह अपने आपको निर्जीव बना डालेगा।

अपने व्यक्तित्व को सजीव बनाये रखने का सर्वोत्तम तरीका है निरन्तर दानशीलता। यदि हम अपना समय, शक्ति और धन, अगर वह हमारे पास है तो, सुपात्रों को देते रहें अथवा सत्कार्यों में व्यय करते रहें तो हम अपने यौवन को बनाये रख सकते हैं।

निरन्तर करते रहना दान, इसी को कहते हैं यौवन।
बुढ़ापा कंजूसी का नाम, जगत् में बुरा हिसाबीपन॥

कब जनता के निकट सम्पर्क में आना अथवा कब मौन रहकर एकान्त में कार्य करना यह किसी सजीव लेखक की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए। प्राचीन काल के लेखक तपोवनों में रहकर अपने सर्वोत्तम विचार जनता से प्राप्त करते थे, पर आज उल्टी स्थिति हो गई है। लेखक शासकों के ही नहीं, धनाढ्य व्यापारियों के भी गुलाम बन गये हैं। जब कभी भी हम अपने अधिकारों और अपनी सुविधाओं को प्रथम स्थान देंगे तभी उलझनें पैदा हो जायंगी।

बात यह है कि दुनिया के साधारण आदमी अपने हित को सबसे आगे रखते हैं। यदि लेखक उनके धरातल पर उतर आवेगा तो वैसी ही धक्कमपेल होगी, जैसी तीसरे दर्जे की खिड़कियों पर रेल का टिकट

लेते वक्त होती है।

संत तुलसीदास कह गये हैं—

'जो इच्छा करिहौं मन माहीं,
राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।'

यदि हम विश्व की सहायक शक्तियों की धारा के साथ अपनी आकांक्षाओं को मिला सकें तो हमारी अभिलाषाओं की पूर्ति आसानी से हो सकती है। सारी मुश्किल इस बात की है कि हम लोग दृढ़तापूर्वक किसी भी चीज की इच्छा नहीं कर पाते।

विलायत की एक सजीव लेखिका ऐथिल मेनिन ने आत्म-चरित में लिखा है, "इच्छा की जबरदस्त आकर्षण-शक्ति में मेरा सदा से ही दृढ़ विश्वास रहा है। जिस चीज के प्राप्त करने की मैंने इच्छा की है, वह अन्त में मुझे मिल ही गई है। हां, उसे बनाये रखने की बात दूसरी है। इसमें कोई अन्ध-विश्वास की बात नहीं—अगर कोई आदमी पूर्ण शक्ति के साथ किसी चीज की अभिलाषा करता है तो अन्त में वह उसे मिल ही जाती है। इसका कारण यही है कि उसके विचार तथा कार्य, चेतन तथा अचेतन अवस्था में जागते तथा सोते, उसी उद्देश्य के प्रति प्रेरित होते रहते हैं; और अचेतन अवस्था में ध्येय के प्रति फेंके या खिंचे जाने में जबरदस्त शक्ति है। अधिकांश व्यक्तियों के साथ एक बड़ी भारी मुश्किल है, वह यह कि वे यही नहीं समझ पाते कि आखिर वे अपने जीवन से चाहते क्या हैं; और जब कभी इस विषय में उन्हें थोड़ा-सा ज्ञान होता भी है, तो उत्साह तथा दृढ़तापूर्वक वे इच्छा ही नहीं कर पाते।" अपने अनुभव से हम उपर्युक्त कथन का समर्थन कर सकते हैं। आज से तेईस-चौबीस वर्ष पहले हमने एडवर्ड कार्पेण्टर की 'माई डेज़ एंड ड्रीम्स' (मेरे दिन और स्वप्न) नामक पुस्तक में झरने के निकट उनकी कुटी का एक चित्र देखकर किसी जलप्रपात के निकट रहने की इच्छा की थी। वह इच्छा पन्द्रह-सोलह वर्ष बाद जाकर पूर्ण हुई। इसलिए हम तो आशावादी हैं।

: ९ :

साहित्य-सेवा का राजमार्ग

यह समाचार, कि आगरे के एक साहित्यरत्न महानुभाव स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर आत्मघात करने जा रहे थे, उसकी पूर्व-सूचना उन्होंने श्रीमान पन्तजी को भेज दी थी और परिणामस्वरूप उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया, वास्तव में खेदजनक तथा विचारोत्तेजक है। इसके पहले एक अन्य साहित्यरत्न बन्धु ने भारत के एक अत्युच्च पदाधिकारी से प्रश्न किया था—

"क्या आपकी सरकार मेरे लिए कुछ कर सकती है? अथवा मुझे भी लाचार होकर शील चतुर्वेदी* के पथ का अनुसरण करना होगा?"

किसी के ऊपर न्यायाधीश बनकर बैठना हमारा काम नहीं। कोई हृदयहीन व्यक्ति ही ऐसी धृष्टता कर सकता है। जबतक हम उन भाइयों की विशेष परिस्थिति से परिचित न हों तबतक उन्हें परामर्श ही क्या दे सकते हैं; और फिर कोरे परामर्श से अत्यन्त निराश तथा क्षुधा-पीड़ित व्यक्तियों का कुछ हित भी हो सकता है? सलाह-मशविरा रोटी का स्थान नहीं ले सकते। इसलिए ये पंक्तियां किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना की दृष्टि से नहीं लिखी जा रहीं।

इतना तो स्पष्ट ही है कि साहित्य-जगत् में एक प्रकार की निराशा-सी फैली हुई है और कितने ही साहित्य-सेवी सरकार से यह उम्मीद रखते हैं कि वह हमारे व्यक्तिगत प्रश्नों को हल कर दे। चूंकि सरकार शक्ति तथा साधन-सम्पन्न है—सैकड़ों नौकरियां भी उसके हाथ में हैं—

---

* हिन्दी के उदीयमान कवि, जिन्होंने रेल के नीचे कटकर आत्मघात कर लिया था।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्यिक बन्धु सरकार से कुछ आशा रखें, पर है यह डूबते को तिनके के सहारे की तरह ही।

हम यह मानते हैं कि साहित्य-सेवियों का कुछ हित अप्रत्यक्ष रूप से सरकारों द्वारा हो सकता है। कापीराइट के नियमों में संशोधन करके, ग्रन्थमालाओं तथा पत्रों के लिए पोस्टेज में कमी करके और श्रमजीवी पत्रकारों के संगठनों को सहायता देकर हमारी सरकार साहित्य-जगत की कुछ-न-कुछ सेवा कर सकती है; पर उसकी एक सीमा है। सामूहिक रूप से कोई भी सरकार साहित्यिकों के प्रश्नों को हल नहीं कर सकती। यदि हमारी सरकार अयोग्यों को आश्रय देकर निराशामय अंधकार को और भी गहरा न करे तो यह भी उसकी बड़ी सेवा मानी जानी चाहिए। हां, किसी बूढ़े, अपाहिज अथवा बीमार साहित्य-सेवी को कुछ आर्थिक सहायता भी सरकार द्वारा मिल सकती है, कभी-कभी पुरस्कार या पारितोषिक भी दिये जा सकते हैं, पर इनसे हमारे प्रश्न हल नहीं हो सकते। रोग के ये इलाज नहीं, अल्पकालीन मरहमपट्टी भले ही हो। हमें अपने प्रश्नों पर स्वयं ही विचार करना है।

पहले सरकारी नौकरियों को ही लीजिये। यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो पता लग सकता है कि वे सरकारी नौकरियां, जिनमें कोई साहित्य-सेवी खप सकता है, अल्पसंख्यक ही हैं और उनके मुकाबले में साहित्य-सेवियों की तादाद बहुत ज्यादा है। जो नौकरी सौ आदमियों में केवल एक को ही मिल सकती है, उसके पाने की उम्मीद रखना निराशा तथा दुःख को निमंत्रण देना है।

साहित्य-जगत् के निराशामय वातावरण को दूर करने का प्रश्न इतना गम्भीर है कि इसपर सामूहिक रूप से विचार करने की आवश्यकता है। साहित्य-सेवी कोई विशिष्ट जन्तु नहीं है और उसके प्रश्न भी देश के अन्य सर्वसाधारण के प्रश्नों से सम्बद्ध हैं। हम लोग अपने लिए कोई विशेष सुविधाएं नहीं मांग सकते। सामाजिक जीवन के लिए जो-जो कार्य आवश्यक हैं, उनमें भाग लिये बिना न तो हमारे प्रश्न हल हो सकते हैं और न हमें आत्म-संतोष

मिल सकता है ।

एक बार रोम्यां रोलां से हमने यह निवेदन किया था कि आपने अपने जीवन की दुःखमय घड़ियों में किस प्रकार सान्त्वना प्राप्त की है, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि वे समय की प्रगतिशील धारा के आगे रहकर अपने चित्त को शान्त रखते रहे हैं। रोम्यां रोलां संसार-प्रसिद्ध लेखक थे; पर उनके जीवन में भी निराशा की घोर घटाएं आई थीं। उनका गृह-जीवन नष्ट हो गया था और अनेक मित्रों ने उनके साथ विश्वासघात किया था। उनके देशवासी उनपर अविश्वास करने लगे थे, क्योंकि संसारव्यापी युद्ध के ज़माने में वह शान्ति का उपदेश देते थे और अन्त में तो उन्हें फ़ासिस्ट अधिकारियों द्वारा कैद कर लिया गया था। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह साम्यवाद के बहुत कुछ समर्थक बन गये थे ।

हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि हम लोग भी सर्वांश में उनके पथ का ही अनुसरण करें। यह प्रश्न रुचि-वैचित्र्य का है। कोई लेखक सर्वोदय संघ में काम कर सकता ह, किसी को समाजवादी दल के सहयोग से शान्ति मिल सकती है और कुछ मनचले साम्यवादी पार्टी में भी शामिल हो सकते हैं। कुछ अपने व्यक्तित्व को किसी भी दल में लीन न करके साधारणतः कुछ काम कर सकते हैं। हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि सामूहिक संघर्ष में भाग लिये बिना हमारी आत्मा को संतोष मिल ही नहीं सकता। वर्तमान समाज-व्यवस्था में परिवर्तन लाये बिना हमारे प्रश्न हल नहीं हो सकते। उस युग के आने में अभी बहुत देर है, जबकि हम सबको अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम मिलेगा। "प्रत्येक आदमी से उसकी योग्यतानुसार काम लिया जाय और उसकी जरूरत के मुताबिक उसके भरण-पोषण का इन्तजाम किया जाय"—इस सिद्धान्त का पालन क्रोपाटकिन के अराजकवादी युग में या बापू के रामराज्य में ही हो सकता है। इसलिए पहला उपाय तो है प्रगतिशील शक्तियों के साथ रहना, पर इसके भी पूर्व हमें अपनी जीविका का सवाल हल करना है ।

हममें से ९५ फीसदी के लिए यह जरूरी है कि हम अपनी जीविका के लिए या तो किसी स्कूल में अध्यापकी करें, किसी आफिस में क्लर्की या फिर टयूशन करके अपनी गुजर-बसर करें। बाकी बचे वक्त में हम लोग माता सरस्वती की आराधना कर सकते हैं।

निराशा का प्रश्न मनोवैज्ञानिक भी है। आसपास के वातावरण में आनन्द तथा उल्लास को लाकर, कुछ अंशों में ही सही, हम इस प्रश्न को हल कर सकते हैं। उदाहरणार्थ पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी को ही लीजिए। यदि हम लोग समय-समय पर मिलते रहें और अपने दुःख-सुख की बातें एक-दूसरे से कहते रहें तो दिल का भार कुछ तो हलका हो ही सकता है। इन गोष्ठियों में लेखकों तथा कवियों को आत्मप्रकटीकरण के अवसर भी मिल सकते हैं। अच्छी रचनाओं की दाद मिल सकती है। नवयुवक साहित्य-सेवियों के लिए तो प्रोत्साहन अनिवार्यतः आवश्यक है।

कभी-कभी प्राकृतिक सुन्दर स्थलों की यात्राएं करके मनोरंजन भी किया जा सकता है। हमें अपने नीरस जीवन में रस का संचार करना है और रस की बूंदें जहां भी, जितनी भी, मिल सकें इकट्ठी करनी हैं।

हमारी साहित्यिक संस्थाएं निस्सन्देह बहुत-कुछ काम कर सकती थीं, पर वे प्रायः इस ओर से उदासीन हैं। नेतागिरी, पदलोलुपता और राजनैतिक चालों द्वारा सत्ता हड़पने की जो प्रवृत्तियां इन संस्थाओं में पाई जाती हैं, उनसे किसी भी सच्चें साहित्य-सेवी का दम घुट सकता है। परिणाम यह हुआ है कि इन संस्थाओं के पास दो-चार भी ऐसे कल्पनाशील साहित्यिक नहीं हैं जो अपना सम्पूर्ण समय साहित्य-जगत् की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन अथवा संचालन के लिए व्यय कर सकें।

हां, वयोवृद्ध अनुभवी साहित्यिक भी इस निराशामय परिस्थिति के निवारण में कुछ सहायक हो सकते हैं।

यदि हम संसार के प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों के जीवन-चरितों का अध्ययन करें तो हमें पता लग जायगा कि उनमें से अधिकांश के जीवन संघर्षमय रहे थे। साधन-सम्पन्न साहित्य-सेवियों की संख्या तो अत्यल्प

ही रही है।

हम साहित्यसेवियों को अपने जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण बनाना है। जो लोग शक्तिशाली नेताओं, सरकारों या पूंजीपतियों का आश्रय लेकर अपनी जीवन-नौका खेना चाहें वे ऐसा कर सकते हैं। पर अपने अनुभवों से इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि——

"मिले रूखी रोटी जो आजाद रहकर,
तो है खौफ-जिल्लत के हलवे से बढ़कर।"

किसी भी साहित्यसेवी के जीवन में वनवास का युग कभी भी आ सकता है और तब उसे धैर्यपूर्वक तदनुसार अपना जीवन बना लेना चाहिए। जब महाशक्तिशाली पाण्डवों को अज्ञातवास करना पड़ा तो फिर हम लोगों की बिसात ही क्या है? पर हम एक बात का ध्यान रखें कि वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह की चिनगारी हमारे हृदय से कहीं बुझ न जाय। सम्भव है, वर्तमान लेखक-समाज अपने प्रश्नों को हल न कर सके; पर इस बात का सन्तोष तो उसे मिल ही सकता है कि उसकी साधना तथा तपस्या का शुभ फल आगे आनेवाली पीढ़ी उठायेगी। जिस देश में भगीरथ इक्कीसवीं पीढ़ी में गंगाजी को लाये थे, उस देश के साहित्य-सेवी के सम्मुख आदर्शवाद के उदाहरणों की कमी नहीं है। जरूरत है, हमारे अन्तर्मुखी बनने की और अपनी आलोचना स्वयं करने की। देश के अमुक नेता यह नहीं करते, वह नहीं करते अथवा अमुक संस्था का यह अपराध है, वह अपराध है,——इस प्रकार की आलोचनाओं से निराशा के वातावरण में वृद्धि ही होती है।

जीवन एक अमूल्य चीज है। उसे आत्मघात द्वारा खतम करने की कल्पना ही गलत है। यदि उसे समाप्त ही करना है तो किसी शुभ उद्देश्य या लक्ष्य के लिए तिल-तिल करके समर्पित करने में हमारा तथा साहित्य-जगत् का कल्याण होगा।

: १० :

हमारा साहित्योपवन

आम्र-निकुंज, ५ जून, १९४३। पांच आम्र-वृक्षों का सघन कुंज है। ये चालीस-पचास वर्ष पहले लगाये गए होंगे। इनकी शीतल छाया में बैठे हुए हमारे मन में आज अनेक विचार उठ रहे हैं। किसी सुदूर पेड़ से कोयल की आवाज सुनाई पड़ रही है, जो याद दिलाती है ब्रज-कोकिल सत्यनारायण कविरत्न के मधुर स्वर की, जो कभी हिन्दी के साहित्योपवन में गूंजा करता था। यह उद्यान काफी विस्तृत है। हम सोचते हैं कि जिन मालियों और उद्यान-सेवकों ने पानी दे-देकर इन पौधों को बड़ा किया था, क्या उनके मन में कभी यह कल्पना भी आई थी कि इनका उपभोग आगे चलकर कौन करेगा ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, आचार्य द्विवेदीजी और पं श्रीधर पाठक तथा अन्य बीसियों साहित्यिकों ने हिन्दी-साहित्योपवन की जो सेवा की, उसका शुभ फल आज हम लोग भोग रहे हैं। क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि हम भी इस बगीचे को इस प्रकार सुसज्जित करें कि आगे आनेवाली पीढ़ियां कृतज्ञतापूर्वक हमारा स्मरण करें ?

इन बड़े-बड़े वृक्षों से दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह गज की दूरी पर कलमी आमों के नये पौधे हैं, जो चार-पांच वर्ष के होंगे और जिनमें शायद अगले साल फल आयंगे। और यहीं तीन-चार गज की दूरी पर गमलों में नवीन पौधें रखी हुई हैं, जो संख्या में पचासों होंगी। इनमें कितनी ही जीवित रहेंगी और सम्भवतः कुछ सूख भी जायंगी। माली नित्य-प्रति इनकी देख-भाल करता है और बगीचे के मजदूर नियमानुकूल इनम पानी देते हैं। मैं खयाल

कर रहा हूं अपने जनपद के उन नवीन लेखकों तथा कवियों का, जिन्हें प्रोत्साहन का रस और उपयुक्त वायुमंडल मिलना ही चाहिए। 'कीरति के बिरवा कवि हैं इनको कबहूं कुम्हलान न दीजै'—किसी प्राचीन कवि ने कहा था। पन्द्रह-बीस करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषियों में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि सहस्रों ही कवि और लेखक हों। यद्यपि हम लेखन-ब्रह्मचर्य के पक्षपाती हैं, तथापि यह भी जानते हैं कि आत्म-प्रकटीकरण की भावना अदम्य है। किसी कवि से यह कहना कि आप कविता न कीजिए, उतना ही धृष्टतापूर्ण है, जितना कि किसी कली को यह आदेश देना कि तुम प्रस्फुटित न हो। लेखक लेख लिखेंगे और कवि कविता रचेंगे ही। सर्वोत्तम नीति यही है कि अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार अनुभवी व्यक्ति उन्हें प्रोत्साहन दें और उनका पथ-प्रदर्शन करें।

अभी उस दिन एक माली ने हमसे शिकायत की थी कि अमुक सज्जन ने हमारे अशोक का एक पौधा सुखा डाला। हमारे यहां से गमला तो उठा लाये, पर उसको पानी देने का प्रबन्ध न कर सके! चूंकि अशोक वृक्षों की शीतल छाया में हमारे जीवन के अनेक सुखप्रद घण्टे बीते हैं, इसलिए हम उस माली की हार्दिक वेदना का अनुमान कर सके; पर साथ ही मन में यह प्रश्न भी उठा कि क्या इसी प्रकार हम लोगों की उपेक्षा या लापरवाही से अनेक लेखक तथा कवि अविकसित अवस्था में ही नहीं पड़े हुए हैं? हमारे उद्यान में कोई आठ-दस आदमी काम कर रहे हैं। कोई रहंट चला रहा है, कोई पौधों को पानी दे रहा है, कोई वीथियों को झाड़ रहा है, कोई पौधों की देख-रेख कर रहा है और अभी उद्यान-आफिसर ने आकर इस उद्यान का निरीक्षण किया है। क्या साहित्योपवन में इसी प्रकार के पारस्परिक सहयोग की भावना की जरूरत नहीं?

सामने असमय में ही सूखा हुआ वह पौधा दीख रहा है और हमारे मन में चिन्ता है उन पत्रकार-बन्धु की, जो क्षय-रोग से पीड़ित होकर एक अस्पताल में पड़े हुए हैं और जिनके पास इतना पैसा भी नहीं कि वे फल खा सकें। हमारे एक मित्र ने उन्हें अस्पताल में जाकर देखा है और लिखा है

कि उनकी हड्डी-हड्डी निकल आई है। हमें याद आ रही है पपीते के उस पौधे की, जो हम अपनी पूर्वी-अफ्रीका-यात्रा के पहले एक मित्र की देख-रेख में छोड़ गए थे और जिसे तीन महीने बाद लौटकर हमने बिलकुल सूखा हुआ पाया था। उस समय हमें जो हार्दिक वेदना हुई थी, उसका हमें अभी तक स्मरण है। अभी उद्यान के माली श्री गोविन्द सिंह ने, जो बहुत मामूली पढ़ा-लिखा है, कविवर देवीदास का यह कवित्त सुनाया है :

छोटे-छोटे फूलन को सूरन की वारि करे,
पतरे से पौधा पानी डारि प्रतिपारिबो;
फूली फुलवारिन के फूल तोरि लेवै खरे,
घने दरखत एक ठौर तें उखारिबो।
नीचे परे पाँयनि ते टेकनि दे ऊंचों करै,
ऊँचे चढ़ि गए ते जरूर काटि डारिबो;
राजन को मालिन को प्रतिदिन 'देवीदास'
चार घड़ी राति रहे इतनी बिचारिबो॥

क्या तुलसीदासजी के समकालीन मारवाड़-निवासी देवीदासजी को स्वप्न में भी इस बात की आशा रही होगी कि तीन सौ वर्ष बाद बुन्देलखण्ड का एक अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित माली उनके कवित्त को इस तरह दुहरायेगा ?

हिन्दी-साहित्योपवन के तीन स्वर्गीय मालियों से हमारा व्यक्तिगत परिचय था और उनसे हमने बहुत-कुछ पाया भी था। वे थे आचार्य द्विवेदी जी, गुरुवर पं० पद्मसिंह शर्मा और श्रद्धेय गणेशजी। उनके चले जाने के बाद यह उपवन सूना-सूना-सा लगता है —

'रंगीं है आजकल के गुले नौबहार से।
अगला जो कोई बर्ग जर्द इस चमन में है।

अर्थात्—वसन्त-वाटिका में नवीन पुष्प खिले हैं, पीले पत्ते तो कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं।

स्व० पद्मसिंह शर्मा का जीवन ही साहित्यमय था। कवियों और

लेखकों की रचनाओं की दाद देना, उन्हें प्रोत्साहित करना मानो उन्हींके हिस्से में आया था। श्रीमती 'चकोरी' की 'उजड़ी वाटिका से' नामक कविता छपी थी। शर्माजी की निगाह उस कविता पर पड़ी और उन्होंने तुरन्त ही उसकी प्रशंसा लिख भेजी। कविता के दो पद्य सुन लीजिए :

वह क्या हुए वैभव तेरे सभी, वह मंजुलता दिखलाती न क्यों ?
वह शीतल सौरभ डूबी बयार, अचंचल है इठलाती न क्यों ?
वह पीली पराग-सनी सरसों, कुछ झूमती-सी झुक जाती न क्यों ?
उकसाती जो आग वियोग की है, वह कोयल भी अब गाती न क्यों?
वह बल्लरियां लिये पल्लवों को, निज अंक में नित्य झुलाती न क्यों?
मद-मत्त हो स्वागत में उषा के, विहंगावली गान सुनाती न क्यों ?
सुमनावलियां मुसकाती हुई, भ्रमरों को बुला बहलाती न क्यों ?
मदिरा-सी पिये अलसाती हुई, तितली अब चित्त चुराती न क्यों ?

कविता में इसी प्रकार के पांच मनोहर पद्य थे। उन्हें पढ़कर पं० पद्मसिंह ने लिखा था—"'उजड़ी वाटिका से' शीर्षक कविता मुझे बहुत पसन्द आई। यह चकोरी देवी कौन हैं ? अच्छा लिखती हैं। मैंने पहली बार ही उनकी रचना पढ़ी है। तीसरे छन्द की अन्तिम पंक्ति पढ़ते वक्त कुछ धचका-सा लगता है, उसमें छन्दोभंग या ध्वनिभंग है। मात्राएं तो गिनी नहीं; पर धचका जरूर लगता है, जरा पढ़ देखिए।" हिन्दी-जगत् में आज बीसियों लेखक तथा कवि विद्यमान हैं, जिन्हें समय-समय पर शर्माजी से बहुत-कुछ प्रोत्साहन मिला था। इन पंक्तियों का लेखक तो उनका अत्यन्त ऋणी है।

इसी प्रकार स्वर्गीय द्विवेदीजी तथा गणेशजी हमें और हमारे-जैसे पचासों नवीन लेखकों तथा कवियों को बराबर प्रोत्साहन देते रहते थे। जितने साहित्यिकों का निर्माण इस आचार्यत्रयी ने किया है, उतने और उस कोटि के साहित्यिक हिन्दी-जगत् में शेष सब धुरन्धर महारथियों ने मिलकर भी न बनाये होंगे। अभी उस दिन विद्वद्वर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने एक पत्र में बड़ी कृतज्ञतापूर्वक द्विवेदीजी के एक उत्साहप्रद

कृपा-पत्र का जिक्र किया था, जो उन्हें आज से बीस वर्ष पहले प्राप्त हुआ था। हिन्दी का शायद ही कोई उल्लेख-योग्य लेखक या कवि हो, जिसे पूज्य द्विवेदीजी ने प्रोत्साहित न किया हो। उन्हींके श्रेष्ठ शिष्य गणेशजी ने इस परम्परा को निबाहा और खूब निबाहा।

सौभाग्य की बात है कि हिन्दी का साहित्योपवन दिनों-दिन खूब हरा-भरा होता जाता है। खेद केवल इसी बात का है कि उसकी देख-भाल करने वाले सहृदय समालोचकों का प्रायः अभाव ही है। इस कारण झाड़-झंखाड़ की भी वृद्धि हो रही है और इस अकाल तथा कन्ट्रोल के जमाने में भी 'सब धान बाईस पसेरी' बिक रहे हैं! दूसरे साहित्य-सूत्रों की बात हम नहीं जानते। सम्भवतः उनके यहां क्षति-पूर्त्ति का सिद्धान्त काम कर रहा हो। हमारे यहां तो इन तीन साहित्यिक महापुरुषों—द्विवेदीजी, शर्माजी, गणेशजी—के उठ जाने पर उनका स्थान खाली ही है। पर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र वसुन्धरा है और हिन्दी-माता की कोख कभी खाली नहीं होगी, इसलिए निराश होने का कोई कारण नहीं।

पहले जब कोई अच्छा लेख या नोट अपने हाथ से निकल जाता था तो इस बात की आशा रहती थी कि उक्त रचना की कद्र करनेवाले मौजूद हैं और हमें निराश नहीं होना पड़ता था। जिस दिन श्रद्धेय द्विवेदीजी या शर्माजी की चिट्ठी आ जाती थी, आफिस में उत्सव-सा हो जाता था। कभी द्विवेदीजी किसी की लेख-शैली की प्रशंसा करते थे तो कभी शर्माजी किसी के अनुवादों की दाद देते थे। कभी भूल हो जाती थी तो मीठी डांट-फटकार हमारे हिस्से में आती थी। यह अनुभव करते हुए कि हमारे सिर पर कोई वयोवृद्ध मौजूद हैं, जो हमें पथ-भ्रष्ट न होने देंगे, हृदय को ढाढ़स बंधा रहता था। बड़े-बूढ़ों की डांट-फटकार में भी आनन्द ही आता है। अब कोई अच्छे लेख लिखे भी तो किसके लिए? यहां कौन किसे पूछता है? आज हममें से प्रत्येक अपने घर की चहारदीवारी के भीतर साग-तरकारी की बाड़ी लगाकर खुद ही उसका भोग करना चाहता है। उपवन लगाने या सजाने की चिन्ता किसी को नहीं। भगवान

ने गीता में कहा था :

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्ति आत्मकारणात् ।

अर्थात्---यज्ञ से बचे हुए पदार्थों का भोजन करने वाले सन्त लोग तमाम पापों से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो लोग अपना ही पेट भरने के लिए भोजन बनाते हैं, वे केवल पाप का ही आहार करते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे साहित्यिक याज्ञिक इस उपदेश को ध्यान में रखें !

आज हम प्राचीन भारतीय धर्म, श्राद्ध-कर्म को भी भूलते जा रहे हैं। हमारे यहां कितने ही लेखक और कवि ऐसे हो गए हैं, जो बहुत अच्छा लिखते थे; पर जिनके लेखों अथवा कविताओं का संग्रह हम अभी तक नहीं कर पाये। उनका यश: शरीर हमारी आंखों के सामने ही सूखता जा रहा है !

यदि हम अपने-अपने जनपद की जांच-पड़ताल करें तो हमें पता लगेगा कि हमारे साहित्योपवन की कितनी ही कलियां बिना खिले ही मुरझा गईं। प्रोत्साहन किसे कहते हैं, यह उन्होंने जीवनभर नहीं जाना। वास्तव में वह विद्वान लेखक हिन्दी-माता और हिन्दी-जनता का बड़ा उपकार करेगा, जो इन उपेक्षित व्यक्तियों के दृष्टिकोण से आधुनिक हिन्दी का इतिहास लिखेगा। हमारे इतिहास-लेखक प्राय: 'टका में टका और धका में धका' की नीति से काम लेते हैं और विज्ञापित व्यक्तियों की ही प्रशंसा के पुल बांधते चले जाते हैं। भावी इतिहास-लेखक का कर्त्तव्य होगा उन लेखकों तथा कवियों का भी उल्लेख करना, जो वास्तव में बड़े होनहार थे; पर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण जिनका यथोचित विकास नहीं हो पाया। कहने का अभिप्राय यही है कि हमारे सैकड़ों ही छुटभइए आज हमसे प्रारम्भ में थोड़ी-सी सहायता (किंचित् प्रोत्साहन) की आशा रखते हैं और उन नवांकुरों के पनपने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए। हम साहित्य-जगत् में परावलम्बन की भावना जाग्रत नहीं करना चाहते। प्रोत्साहन का कोई सदाव्रत जारी करने की इच्छा हमारी नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि चिरस्थायी पराश्रय अन्ततोगत्वा निर्बलता तथा अनैतिकता को जन्म देता

है। हमारा कहना तो सिर्फ इतना ही है कि तैरना सीखनेवालों के लिए प्रारम्भ में जैसे थोड़े से सहारे की जरूरत होती है, वैसे ही साहित्य-सरिता के नवीन तैराकों को शुरू-शुरू में कुछ सहायता मिलनी चाहिए। बस।

कभी-न-कभी वह युग अवश्य आयगा, जब कि हमारे साहित्यिक काल-कोठरियों के बजाय उद्यानों में रहेंगे, जब कि नोन-तेल-लकड़ी की निरन्तर चिन्ता करने के बजाय देश के महत्वपूर्ण प्रश्नों का चिन्तन करते हुए उनका समय बीतेगा और जबकि समाज में उन्हें वही स्थान प्राप्त होगा, जो प्राचीन काल में सच्चे तपस्वी ब्राह्मणों को प्राप्त था। निःसन्देह आज के युग में लेखक ही वास्तविक ब्राह्मण हैं, चाहे वे किसी भी जाति के हों (हिन्दू, मुसलमान, पारसी या ईसाई इत्यादि); पर उस युग को लाने के लिए हम सबको साधना करनी होगी।

एक वृद्ध आदमी से, जो आम के पौधे लगा रहा था, किसी ने पूछा—"बाबा, तुम आम क्यों लगाते हो ? इनके फल खाने के लिए तुम क्या बैठे रहोगे ?" बूढ़े ने जवाब दिया—"हमारे बाबा ने आम लगाए थे, सो हम खा रहे हैं। हम लगा रहे हैं, सो हमारे नाती खायंगे।" इसी भावना से हम साहित्यिकों को काम करना चाहिए। हिंदी पत्रकार-कला की जिस फुलवारी को हमारे महारथियों ने लगाया था, उसमें कम-से-कम एक बार चक्कर लगाकर हम नवीन साहित्यिक अंकुरों को देखें और जांच करें कि कहीं कोई होनहार पौधा सरस वायुमंडल के अभाव में सूख तो नहीं रहा ?

साहित्योपवन के प्रश्न दो-एक नहीं, अनेक हैं और उनपर गम्भीरता-पूर्वक विचार हो सकता है, जब प्रत्येक जनपद के साहित्य-सेवी अपने यहां के किसी सुन्दर प्राकृतिक स्थल पर इकट्ठे होकर पांच-सात दिन साथ रहें और उस उल्लासमय वायुमण्डल में दिल खोलकर बातचीत करें। साधन-सम्पन्न व्यक्ति इस उद्यान-निवास और उद्यान-भोज का प्रबन्ध करके आसानी से यश लूट सकते हैं। वैसे तो प्रत्येक साहित्य-सेवी के लिए सैकड़ों वर्ष पहले के किसी यूनानी दार्शनिक का यह उपदेश 'अपने बगीचे को

जोतो-बोओ' ही आदर्श वाक्य है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' भगवान ने गीता में कहा था। फिर भी पारस्परिक विचार-परिवर्त्तन की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती रहती है।

साहित्यिकों को युग-धर्म को ध्यान में रखते हुए स्व-धर्म पालन करना चाहिए। सहस्र बार वन्दनीय हैं राल्फ फाक्स-जैसे लेखक, जो कलम और बन्दूक दोनों के धनी थे (शस्त्र और शास्त्र दोनों के ज्ञाता), जिन्होंने फ़ासिज़्म के प्रबल प्रभंजन के प्रतिरोध में अपने प्राणों की आहुति दे दी और जिनके यशःसौरभ से विश्व-साहित्य के उपवन युग-युगान्तर तक महकते रहेंगे। पर न प्रत्येक साहित्यिक उनकी तरह क्षत्रिय बन सकता है और न प्रत्येक को बनना ही चाहिए। वैचित्र्य में जीवन है और वैचित्र्य ही उपवन तथा साहित्योपवन दोनों की जान है। संकुचित हैं वे, जो चट्टान पर उगने वाले पीपलों की तो पूजा करते हैं, किन्तु कोमल जुही तथा चंचल चमेली के लिए जिनके हृदय में कोई भी स्थान नहीं। पर कोई भी असली उद्यान-प्रेमी अथवा सच्चा साहित्य-सेवी असहिष्णु नहीं बन सकता।

गुलाब को चमेली बनने की जरूरत नहीं और गेंदा जुही से ईर्ष्या क्यों करे? उद्यान में सबका उचित स्थान है और अपने स्थान पर यथोचित सम्मान। महाप्राण वटवृक्ष तूफानों में डटे रहेंगे और छुईमुई क्यारियों में शोभा देगी। आम यदि मधुर फल देंगे तो बबूल भी कठोर कांटे, जिनसे बाड़ी की सीमा पर रक्षा का काम लिया जा सकेगा। उद्यान और साहित्योपवन दोनों के लिए हम एक ही सिद्धान्त के समर्थक हैं, यानी सबको फूलने-फलने तथा फैलने के लिए पर्याप्त अवकाश और आकाश प्राप्त हो—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।'

: ११ :

हमारा साहित्यिक संगठन

१. साहित्यिक परिषदें

जनता की रुचि को शिक्षित एवं सुसंस्कृत करने के लिए जितनी भी साहित्यिक गोष्ठियां और समितियां कायम की जा सकें, की जानी चाहिए। इनमें से अधिकांश तो स्थानीय होंगी और कुछ पत्र-व्यवहार के द्वारा भी संचालित हो सकती हैं। हमारा खयाल है कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रचार-कार्य के लिए इन गोष्ठियों द्वारा बहुत काम हो सकता है।

गोष्ठियों के सिवाय कुछ काम चिट्ठी-पत्री की परिषदों द्वारा भी हो सकता है। पच्चीस-पच्चीस साहित्यिकों की पांच परिषदें कायम करना कोई मुश्किल बात न होगी।

इस प्रसंग में हम आयरलैंड के स्वर्गीय महाकवि यीट्स के विचार उद्धृत करते हैं, जो उन्होंने एक आयरिश परिषद् कायम करने के विषय में प्रकट किये थे। यीट्स और ए० ई० महापुरुष थे और उन जैसी आकांक्षाएं हमारे लिए अनुपयुक्त होंगी, फिर भी उनकी निर्धारित दिशा में काम करना हमारे साहित्य के लिए हितकर होगा।

स्वर्गीय डबल्यू० वी० यीट्स आयरलैंड के एक प्रसिद्ध कवि तथा लेखक थे। उन्हें आयरलैंड की एक साहित्यिक सभा की ओर से भोज दिया गया था। उस भोज के अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने कई बातें बड़े मार्के की कही थीं। उन्होंने कहा था :

"मैं कुछ दिनों से अनेक आयरिश साहित्य-सेवियों के साथ आयरिश साहित्य-परिषद् की स्थापना के विषय पर परामर्श करता रहा हूं, और मैंने इस विषय की एक योजना भी तैयार की है। मेरी समझ में पहले पांच-

सात प्रसिद्ध साहित्यिकों की एक समिति बनाई जाय और उन लोगों को यह अधिकार दे दिया जाय कि वे अपनी ओर से अधिक-से-अधिक बीस आदमी चुन सकें। ये सभी सदस्य लेखक अथवा आलोचक होंगे और आयरलैंड के सच्चे साहित्य-सेवियों के प्रतिनिधि समझे जायंगे। हमारे यहां इस प्रकार की संस्था के कायम करने की आवश्यकता इसलिए और भी अधिक है कि आयरलैंड में खरी समालोचना करनेवाले पत्रों का अभाव है। इस कारण इस साहित्य-परिषद् की स्थापना पाठकों के लिए बहुत लाभदायक होगी, क्योंकि वह आयरलैंड में तथा अन्यत्र भी सत्साहित्य के प्रचारार्थ उद्योग करेगी। असाधारण योग्यतापूर्ण पुस्तकों के प्रणेताओं को यह परिषद् प्रतिवर्ष पदक भी प्रदान कर सकती है और इसके द्वारा आयरिश साहित्य की अधिकार-युक्त जांच तथा आलोचना भी प्रकाशित की जा सकती है। हमने यह विचार किया है कि प्रारम्भ में सरकार से सहायता न ली जाय और हमारी साहित्य-परिषद् का संचालन सर्वसाधारण की सहायता के द्वारा ही हो। परिषद-सम्बन्धी अन्य नीति इस आलोचना के कार्य-रूप में परिणत होने पर निर्धारित हो सकती है। अभी मैंने बर्नार्ड शॉ से इस बात का वचन ले लिया है कि वे हमारी साहित्य-परिषद के सदस्य बन जायंगे। मि. जार्ज रसेल ए. ई. भी इसके सदस्य होंगे। इसके अतिरिक्त कई सुविख्यात लेखकों और औपन्यासिकों से भी सदस्य बनने की प्रार्थना की जायगी। हमारी यह साहित्य-परिषद लेखक की रचना पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करेगी। चीज अच्छी है या नहीं ? यही प्रश्न उसके लिए मुख्य होगा। रचना अंग्रेजी में हो या आयरिश भाषा में, इस बात की कोई कैद न होगी। मैंने सुना है कि एक वृद्ध किसान ने अपना जीवन-चरित आयरिश भाषा में लिखाया है और आयरलैंड की सरकार उसे छपाना चाहती है। यदि वह जीवन-चरित वैसा ही अच्छा है जैसी कि खबर मैंने उसके विषय में सुनी है तो इस किसान को भी साहित्य-परिषद् का सदस्य निर्वाचित किया जायगा। मुझे यह पता नहीं कि वह किसान लिख-पढ़ भी सकता है या नहीं; पर मैं अपनी साहित्य-परिषद को

एक सजीव संस्था बनाना चाहता हूं।"

चीन में बारह सौ वर्ष पुरानी एक साहित्य-परिषद् थी, जिसकी स्थापना सन् ७४० में हेन वंश के एक सम्राट के समय में हुई थी। उसका काम था सम्राट को परामर्श देना। उसमें दो सौ चालीस सदस्य थे। सरकार की ओर से उनमें से प्रत्येक को एक घर, छोटा-सा बगीचा और भरण-पोषण के लिए मामूली पेन्शन मिलती थी। यह परिषद् यद्यपि सरकार से सहायता लेती थी तथापि सैकड़ों वर्षों से उसकी परम्परा पूर्ण स्वाधीनता की ही चली आई थी। यही नहीं, उसका यह कर्त्तव्य और अधिकार भी था कि वह केवल सरकार की ही नहीं, बल्कि स्वयं सम्राट् की भी आलोचना करे। यह परिषद् अपना निर्वाचन स्वयं ही करती थी। यानी जब किसी सदस्य का स्थान खाली होता था तो शेष सदस्य देश के सर्वोत्तम विद्वानों में से किसी एक का चुनाव करके उसे अपनी परिषद् में शामिल कर लेते थे। इस परिषद् के कर्त्तव्य तीन थे :

१. वाद-विवाद, २. वाद-विवादों के परिणामों का राष्ट्र भर में प्रचार, ३. आफिसरों के कार्यों का नियन्त्रण। यह परिषद् भिन्न-भिन्न विषयों पर पेम्फलेट निकाला करती थी। विषयों की कोई सीमा न थी। विदेशों के साथ संधि, शिक्षा की नवीन पद्धति, कृषि-शास्त्र, पश्चिमी विज्ञान, उपवनों के कीटाणु इत्यादि विषयों के पेम्फलेट लाखों की संख्या में छापे जाते थे और ग्राम-ग्राम में उनका प्रचार होता था। इस संस्था का संक्षिप्त विवरण एडवर्ड कार्पेन्टर ने अपनी एक पुस्तक में दिया है।

हमारे देश की स्थिति चीन से भिन्न है; तो भी, हम एक चीज तो इस चीनी परिषद् से ग्रहण कर सकते हैं, यानी भिन्न-भिन्न विषयों पर स्वतंत्र रूप से विचार करके उनका प्रचार।

हम विकेन्द्रीकरण की नीति के पक्षपाती हैं; इसलिए हमारा आग्रह है कि इस प्रकार की कम-से-कम पांच परिषदें स्थापित हो जायं। कलकत्ता, पटना, काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, जयपुर, उदयपुर, इन्दौर और जबलपुर तथा बम्बई में यदि एक-एक व्यक्ति भी ऐसा मिल

जाय जो हर माह कुछ चन्दा कर सकें तो ऐसी परिषदों का संचालन कोई मुश्किल कार्य न होगा।

ये परिषदें हिन्दी जगत् के मुख्य-मुख्य प्रश्नों पर विचार करके उनका सारांश पत्रों द्वारा जनता के सम्मुख रख सकती हैं। हिन्दी पत्रकारों तथा सम्पादकों की सहानुभूति तथा सहायता तो हमें मिलती ही रहेगी। वास्तव में हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के विकास में हिन्दी पत्रकारों का बड़ा भारी हाथ रहा है। यदि ये परिषदें पत्रकारों को अपनी ईमानदारी का विश्वास दिला सकें तो वे अपने पत्रों द्वारा इन परिषदों की बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं। यदि एक अनिवार्य नियम यह बना दिया जाय कि ये परिषदें चुनावों के दलदल से दूर रहेंगी तो झगड़ों की जड़ ही मिट जाय।

निम्नलिखित प्रश्नों पर ये परिषदें विचार कर सकती हैं :

१. हिन्दी पत्रकार विद्यापीठ, २. हिन्दी-जगत् के लिए पंचवर्षीय कार्यक्रम, ३. हिन्दी में आलोचना, ४. पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय, ५. हिंदी-विश्वविद्यालय, ६. साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा, ७. विश्वविद्यालयों में हिन्दी की पढ़ाई, ८. साधारण जनता क्या पढ़ती है, ९. भावी साहित्य की रूपरेखा, १०. जनपदीय कार्यक्रम, ११. ग्रामीण लेखकों की समस्या, १२. लेखकों के लिए पारिश्रमिक का प्रश्न।

कभी-कभी ट्रेक्ट भी छपाकर ये परिषदें अपने विचार जनता तक भेज सकती हैं।

इन परिषदों के सदस्य प्रान्तीय अथवा अखिल भारतीय सम्मेलनों के अवसरों पर दो दिन पहले पहुंच कर अपनी गोष्ठी कर सकते हैं।

यदि अखिल भारतीय साहित्यिक लीडरी का मोह छोड़कर हम स्थानीय सांस्कृतिक कार्यों में जुट जावें तो बहुत-कुछ काम हो सकता है। हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या बीस करोड़ है। उनतक साहित्य तथा संस्कृति का संदेश पहुंचाने के लिए हमें सहस्रों ही छोटे-छोटे केन्द्र कायम करने होंगे। कहीं पुस्तकालय खोलने होंगे, कहीं वाचनालय, कहीं पुस्तकों की दुकान खुलवानी होगी तो कहीं व्याख्यानशाला का प्रबन्ध

करना होगा। हमारी अखिल भारतीय बीमारी का इलाज स्थानीय संस्थाओं के द्वारा ही हो सकता है।

अपने भावी साहित्यिकों की सुविधा को ध्यान में रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है। जहां-जहां हिन्दी मिडिल स्कूल हैं, कम-से-कम वहां-वहां तो छोटी-मोटी साहित्यिक परिषद् होनी ही चाहिए। ग्रामीण स्कूल के अध्यापकों को मानसिक भोजन पहुंचाने का भी महत्वपूर्ण कार्य हमें ही करना है। यह महायज्ञ किसी एक केन्द्रीय संस्था द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो सैकड़ों ही स्थानीय समितियाँ और सहस्रों ही केन्द्र स्थापित करना होंगे।

हमारे साहित्यिक संगठन का मूल मंत्र और एकमात्र उपाय विकेन्द्रीकरण है; "नान्यः पन्था विद्यते।"

२. स्वाध्याय-मंडल

हमारे देश में राजनैतिक विषयों के अध्ययन के लिए स्वाध्याय-मंडल का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है और साम्यवादी दल की ओर से कई स्थानों पर स्वाध्याय-मंडल के अधिवेशन हो भी चुके हैं। पर जहां तक हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के विषय में हम जानते हैं, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए उनका सूत्रपात अभी तक नहीं हुआ है। इस सिलसिले में स्वर्गीय बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अखण्ड कवि-सम्मेलनों का जिक्र करना अप्रासंगिक न होगा। ये कवि-सम्मेलन कई दिन तक चलते थे और कवियों के ठहरने तथा भोजन इत्यादि का प्रबन्ध एक ही स्थान पर होता था। जो थक जाते थे, वे सो जाते थे, शेष कविता सुनाया करते थे। इस प्रकार के कवि-सम्मेलन समय की गति से पिछड़ चुके हैं, पर यह सम्भव है कि कुछ प्राचीन-कालीन रसज्ञ साहित्य-प्रेमियों के हृदय में उनके प्रति अब भी कुछ आकर्षण हो।

अब वक्त आ गया है कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए हम लोग स्वाध्याय-मंडलों तथा घुमक्कड़ दलों का आयोजन करें।

स्वाध्याय-मंडल के प्रयोग के विषय में हम एक बात प्रारम्भ में ही

कह देना चाहते हैं। वह यह कि हम प्रारम्भ में ही इस प्रयोग से अधिक आशा न करें। सखेद हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम लोगों में—हिन्दी-साहित्य-सेवियों में—वैसी लगन नहीं पाई जाती जैसी देश के अनेक राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं में पाई जाती है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को आवश्यकता है असाधारण व्यक्तित्व वाले ऐसे साहित्यिकों की, जिनमें आदर्शवादिता के साथ-साथ व्यवहार-बुद्धि तथा प्रबन्ध-शक्ति भी हो, जो अपने को साहित्यिक शक्ति का केन्द्र बनाकर अपने चारों ओर सच्चे कार्यकर्ताओं का एक छोटा-सा समूह इकट्ठा कर सकें। यदि देश के प्रत्येक जनपद में एक भी ऐसा साहित्य-सेवी विद्यमान हो तो स्वाध्याय-मंडल बड़ी आसानी से चलाये जा सकते हैं। पर इसके मानी यह नहीं हैं कि तबतक के लिए हम ऐसी योजनाओं को स्थगित कर दें। वर्तमान स्थिति में हमारे जैसे साधारण व्यक्तियों को ही ये शुभ कार्य प्रारम्भ कर देने चाहिए। हमें ऐसे कार्यकर्ता तलाश कर लेने चाहिए, जो हमारी अपूर्णताओं के पूरक हों।

जिस भाषा के बोलने वाले बीस करोड़ हों और जो भारत की राष्ट्र-भाषा हो, उसके लेखकों, कवियों तथा पत्रकारों को पन्द्रह-बीस दिन भी साथ रहने तथा निजी प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का मौका न मिले, इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है? अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार दो-चार बातें यहां निवेदन किये देते हैं:

(१) स्वाध्याय-मंडल में भाग लेने के लिए आठ-दस व्यक्तियों से अधिक निमंत्रित न किये जायं। जो महानुभाव आवें, वे कम-से-कम दो निबंध लिखकर अपने साथ लावें।

(२) यदि निबन्धों के विषयों की घोषणा पहले से ही पत्रों में कर दी जाय तो सम्भवतः कुछ उपयोगी परामर्श बाहर से भी आ सकते हैं और साहित्यिकों के सिवाय उच्च कक्षा के कुछ विद्यार्थी भी इन वाद-विवादों में भाग ले सकते हैं।

(३) जो भाषण पढ़े जायं उन्हें भिन्न-भिन्न मासिक पत्रों में छपाया जा सकता है और वितरणार्थ उनकी पांच-पांच सौ प्रतियां अलग निकाली

जा सकती हैं। यदि पहले से ही छपी हुई प्रतियां लाई जायं तो और भी अच्छा हो।

(४) निमंत्रित व्यक्तियों की सुविधा का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाय। उनसे पूछ लिया जाय कि क्या उनके ठहरने या भोजन इत्यादि के विषय में कोई विशेष प्रबन्ध करना होगा ?

(५) आगन्तुक महानुभाव स्वस्थ रह सकें, इसके लिए व्यायाम तथा भोजन इत्यादि की नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। एक भी व्यक्ति के बीमार पड़ जाने से सम्पूर्ण मंडल के कार्यक्रम में बाधा आ सकती है। इस विषय में कठोर शासन की आवश्यकता है। कोई भी अनियमितता अक्षम्य मानी जानी चाहिए।

(६) इन मंडलों में साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार होना चाहिए और इन वाद-विवादों की रिपोर्ट उसी समय तैयार कर लेनी चाहिए। यदि कोई हिन्दी शार्टहैण्ड जाननेवाला मिल जाय तब तो कहना ही क्या; नहीं तो कई व्यक्ति अलग-अलग नोट लेकर फिर तुलना करके रिपोर्ट तैयार कर सकते हैं। यह रिपोर्टिंग बिना चूके तुरन्त ही हो जाना चाहिए, नहीं तो मामला हमेशा के लिए टल जायगा। उपस्थित व्यक्ति चाहे बीस-पच्चीस ही हों; पर बाहर के श्रोता तो सहस्रों ही हो सकते हैं।

(७) जिस प्रदेश में जो ऋतु अधिक स्वास्थ्यप्रद हो, उसी मौसम में स्वाध्याय-मंडल का आयोजन यदि हो सके तो आगन्तुकों के लिए एक विशेष आकर्षण और भी हो जायगा। कुमाऊं-गढ़वाल वाले यदि गर्मियों में या अक्तूबर में मंडल का आयोजन करें तो कहना ही क्या !

(८) हमारे यहां अनेक उत्सव वैसे ही हुआ करते हैं—यथा तुलसी-जयन्ती, कवि-सम्मेलन, प्रान्तीय या जिला साहित्य-सम्मेलन इत्यादि। उन अवसरों पर हम लोग स्वाध्याय-मंडल के अधिवेशन कर सकते हैं। इस प्रकार खर्च में भी किफायत हो सकती है। कालेजों के विद्यार्थी तो ऐसा आयोजन आसानी से कर सकते हैं।

(९) ठोस साहित्यिक कार्य के सिवाय सात्विक मनोरंजन की सामग्री भी होनी चाहिए। खूबी तब है जब आनन्द तथा उल्लास के बाह्य वातावरण के भीतर हम ठोस काम कर दिखावें।

(१०) निकट के मनोहर प्राकृतिक स्थलों की यात्रा का प्रबन्ध अवश्य किया जाय। इन यात्राओं के चित्र भी लिये जावें। खेल-कूद, भाग-दौड़, कबड्डी, रस्साकशी, तैरना, फुटबाल, बैडमिण्टन इत्यादि का प्रबन्ध आवश्यक है। साहित्य-सेवी होने के मानी मनहूसियत नहीं है। साहित्यिकों को तो सबसे अधिक सजीव होना चाहिए। "जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है।"

(११) इस प्रकार के स्वाध्याय-मंडल के सफलतापूर्वक संचालन के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है सहिष्णुता, बन्धुत्व की भावना, दूसरों की त्रुटियों के प्रति उदारता। यदि यह नहीं तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा।

(१२) वाद-विवादों के संचालन में काफी चतुरता से काम लेना पड़ेगा। अप्रासंगिक बातों को रोकना, समय का उचित विभाजन करना, प्रत्येक को अपनी विशेष बात कहने का मौका देना और वाद-विवाद के अन्त में सारांश को विधिवत् दुहराना, ये काम आसान नहीं।

जिस प्रकार प्राचीन काल के यज्ञों के लिए यजमान और होताओं की जरूरत हुआ करती थी, उसी प्रकार इन साहित्यिक यज्ञों के लिए श्रद्धालु जजमानों तथा समझदार याज्ञिकों की नितान्त आवश्यकता है। यदि श्रम-विभाग की नीति से काम लिया जाय—हरएक को उसकी योग्यता के अनुसार काम सौंपा जाय और प्रत्येक कार्यकर्ता अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करे तो ये स्वाध्याय-मंडल खासी चीज बन सकते हैं। उनसे अनेक लाभ होंगे।

पहला लाभ तो यह होगा कि हम लोग अपने सहयोगियों से भली-भांति परिचित हो जायंगे और मिलकर काम करने की योग्यता का हममें विकास होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि पारस्परिक विचार-विनिमय से अनेक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रश्नों पर कुछ प्रकाश पड़ेगा।

तीसरा लाभ मिल सकता है उन नवयुवक साहित्य-सेवियों तथा विद्यार्थियों को जो हमारे साहित्यिकों के नाम केवल पत्रों में ही पढ़ा करते हैं; पर जिन्हें इन साहित्यिकों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिलता।

अन्त में स्वाध्याय-मंडल के प्रयोगकर्ताओं की सेवा में एक निवेदन और भी कर दूं। प्रारम्भिक असफलताओं से वे निराश न हों। अगर शुरू में ही हम इन मंडलों से अधिक उम्मीद रक्खेंगे तो हमें निराश होना ही पड़ेगा। यह भी सम्भव है कि हमारे मुख्य उद्देश्य के बजाय गौण उद्देश्यों में अधिक सफलता मिल जाय।

विलायत में बीसियों वर्षों से वसन्तकालीन विद्यालयों के आयोजन भिन्न-भिन्न विषयों को लेकर होते रहे हैं। हम लोगों के पास न तो वैसे साधन हैं और न उन जैसी उत्कट साहित्य-साधना, फिर भी हमें हिम्मत से काम लेना चाहिए। अपने अनुभव से हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि स्वाध्याय-मंडल का प्रयोग अन्त में काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हथेली पर आम नहीं जम सकते और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पौधे वर्ष-दो-वर्ष में नहीं उग सकते। तुरन्त फल पाने की आशा करना बाल-मनोवृत्ति का सूचक है। यदि हमारे स्वाध्याय-मंडलों का परिणाम पचास व ँ बाद भी निकले तो भी हमें निराश क्यों होना चाहिए?

३. सम्भाषण और प्रवचन

हम उन आदमियों में से नहीं हैं, जो यह समझते हैं कि बुद्धिजीवी प्राणियों को श्रमजीवी आदमियों से अधिक साधन या सुविधाएं मिलनी चाहिए अथवा वे कोई उच्चतर श्रेणी के जीव हैं। लेखकों तथा मजदूरों को तो हम एक ही वर्ग के मनुष्य मानते हैं। उनके हित एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। मानव-समाज का कल्याण इसीमें है कि वह भिन्न-भिन्न कोटि के मनुष्यों के हितों का न्यायपूर्ण सामंजस्य करे। जो लोग बुद्धिजीवियों को—लेखकों, कवियों, अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों इत्यादि को—उच्च-वर्ग का मानते हैं, वे एक नवीन वर्णव्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं, जो आगे

चलकर हम सबके लिए अत्यन्त विघातक होगी। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जबतक श्रमजीवियों को बौद्धिक भोजन नहीं मिलता और लेखकों तथा कवियों को शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता तबतक दोनों ही पंगु रहेंगे।

वर्तमान संकटकाल में यदि हम साहित्यिकों की आवश्यकता के प्रश्न पर कुछ लिख रहे हैं तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम उनके लिए कोई विशेष अधिकार या संरक्षकता चाहते हैं। हर्गिज नहीं। परमुखापेक्षी साहित्य-सेवी तो एक निर्जीव प्राणी है और उसके लिए तो पिंजरापोल ही एक उपयुक्त स्थान है। हां, सजीव साहित्यिकों की बात दूसरी है।

जिस प्रकार मजदूरों के लिए हंसिया, हथौड़ा, फावड़ा इत्यादि औज़ारों की ज़रूरत है, उसी प्रकार साहित्यिकों के लिए ग्रन्थ तथा सम्भाषण इत्यादि की आवश्यकता है। बिना समानशील लेखकों से विचार-परिवर्तन किये कोई भी साहित्यिक बहुत दिनों तक अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण अथवा आलोचना-शक्ति को प्रखर नहीं रख सकता।

अथवा यों कहिए कि जिस तरह रसोइयों के लिए आटा, दाल, साग-तरकारी इत्यादि आवश्यक हैं, उसी तरह लेखकों तथा कवियों के लिए नवीन-नवीन अनुभूतियां आवश्यक हैं। लाखों व्यक्तियों के भोजन का प्रबंध करने के लिए कितनी जबरदस्त संगठन-शक्ति चाहिए? करोड़ों मनुष्यों के मानसिक भोजन का इन्तजाम करना क्या आसान है?

कई वर्ष तक लगभग एकान्तवास करने के बाद हमें यह कटु अनुभव हुआ कि उपयुक्त साहित्यिक वातावरण के अभाव में अच्छे लेखों के मजमून ही नहीं सूझते। साहित्यिक रचनाओं के लिए एक खास वायुमण्डल चाहिए। पहले एकान्त फिर विचार-परिवर्तन, तत्पश्चात् एकान्त और फिर सम्मिलन।

साहित्यिक गोष्ठियों का महत्व इसीलिए है कि उनमें लेखकों तथा कवियों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने के अवसर मिलते हैं। ये गोष्ठियां महीने में तीन बार से अधिक न होनी चाहिए, बल्कि बेहतर यही होगा कि वे पन्द्रह दिन बाद की जावें।

साहित्यिक गोष्ठियों के संचालकों को कई बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

पहली बात—यह कि ये गोष्ठियां प्राइवेट क्लब के रूप में ही हों। एक भी अनधिकारी व्यक्ति उसके रस को भंग करने के लिए पर्याप्त है। समानशील चार-पांच व्यक्ति मिलकर शेष दस-पन्द्रह व्यक्तियों का चुनाव कर सकते हैं। बीस सदस्यों से अधिक का प्रबन्ध करना बहुत मुश्किल हो जाता है।

दूसरी बात—यह कि बातचीत का विषय एक पखवाड़े पहले ही निश्चित कर देना चाहिए, ताकि अन्य सदस्यों को भी उसपर विचार करने का अवसर मिल जावे।

तीसरी बात—यह कि किसी भी व्यक्ति को नियम से अधिक समय न मिलना चाहिए। मान लीजिये कि कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं के विषय में बातचीत हो रही है। मुख्य वक्ता के लिए चालीस मिनट पर्याप्त होंगे। यदि कोई दूसरे सज्जन कवीन्द्र के विषय में विशेषज्ञ हों तो दस-पन्द्रह मिनट ले सकते हैं। शेष में से किसी को पांच मिनट से अधिक न मिलने चाहिए। गोष्ठी का आनन्द तभी तक है जबतक किसी की तबीयत न ऊबने पावे।

चौथी बात—यह कि गोष्ठी अलग-अलग स्थानों पर होनी चाहिए। कभी किसी उपवन में तो कभी नदी-तट पर और कभी किसी बैठक पर भी। ऐसी गोष्ठियों में थोड़ा-बहुत खाने-पीने का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है, पर इन पार्टियों में व्यय अधिक न होना चाहिए।

पांचवीं बात—यह कि इन गोष्ठियों की रिपोर्ट ले लेनी चाहिए और यदि आवश्यक समझा जाय तो उसका सारांश किसी मासिक पत्र में छपाया जा सकता है। साहित्यिक वार्तालापों में कभी-कभी बड़े उपयोगी सुझाव उपस्थित व्यक्तियों के सम्मुख आ जाते हैं। उनको लिपिबद्ध करने की जरूरत है।

साहित्यिकों के लिए कोई भी विषय त्याज्य नहीं। राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी अथवा साहित्यिक समस्याओं पर विचार किया जा सकता है। हां, साम्प्रदायिक विषयों से यथासम्भव दूर रहना चाहिए, क्योंकि उनसे व्यर्थ ही वाद-विवाद उठ खड़ा होगा और मनोमालिन्य उत्पन्न हो जायगा।

लेखकों की जन्म-तिथि और स्वर्गीय कवियों की पुण्य-तिथि मनाई जा सकती है। भिन्न-भिन्न लेखकों की रचनाओं की आलोचना से अनेक विषय मिल सकते हैं।

कई वर्ष पहले हमें यह विचार सूझा था कि पुस्तकों का जन्मोत्सव मनाना चाहिए। विलायत में तो अनेक ग्रंथों की बिक्री पर क्लबों की चर्चा का अच्छा खासा असर पड़ता है। हमारे यहां तो शिक्षा की इतनी कमी है कि पुस्तकों की खपत बहुत ही कम होती है। फिर भी चर्चा करने-कराने से कुछ तो प्रभाव पड़ेगा ही।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आत्म-चरित में इस बात पर खेद प्रकट किया था कि अब साहित्यिक मजलिस की प्रथा बिलकुल उठ-सी गई है। लोग एक-दूसरे से मिलने जाते हैं; पर व्यापार, कारबार इत्यादि मतलब की बातें करने के लिए। बैठक पर सांस्कृतिक या साहित्यिक वार्तालाप करने के लिए शायद ही कोई जाता हो। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उदारतापूर्ण आतिथ्य से उनके कुटुम्ब के बाल-बच्चों को कितना लाभ हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। जो महानुभाव अपनी सन्तान के लिए सुसंस्कृत वातावरण चाहते हैं, उन्हें अपने यहां विद्वानों को निमंत्रित करना ही चाहिए।

हिन्दी-भाषा-भाषियों में जो साधन-सम्पन्न हैं, उनमें अधिकांश की रुचि इतनी परिमार्जित नहीं है कि वे अपने यहां सुरुचि-सम्पन्न साहित्य-सेवियों को निमंत्रण दे सकें। साहित्य-सेवियों के पास इतने साधन नहीं और बड़े-बड़े नगरों में तो इतना स्थान भी नहीं, जहां दस-बीस आदमी बैठ सकें। सुना है कि स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक ने अपने निवास-स्थान पद्मकोट पर

साहित्यिक गोष्ठी के दो-एक अधिवेशन किये थे; पर सम्भवतः अपनी बीमारी के कारण आगे वे उस क्रम को चला नहीं सके।

इस प्रकार की साहित्यिक गोष्ठियों में, यदि वे किसी एक ही साधन-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा की जाती हैं, एक खतरा है; वह यह कि कहीं संरक्षकता का भाव उनमें प्रवेश न कर जाय। उस दशा में वे मध्यकालीन युग के दरबारी चापलूसों की बैठक बन जावेंगी।

सच्चे साहित्यिक स्वाधीन सिंहों की तरह ह और उन्हें पालतू बनाकर सरकस खेलने का प्रयत्न हास्यास्पद है।

स्फूर्तिप्रद सम्भाषण दुर्लभ वस्तु है। निम्न कोटि के मज़ाक करनेवाले गप्पी आदमियों की बात हम नहीं कहते, क्योंकि वे तो सर्वत्र सुलभ हैं। हमारा अभिप्राय उन आदमियों से है, जिनके वचनों के पीछे कोई दृढ़ व्यक्तित्व है और जो अपने जीवन में कोई हृदय भी रखते हैं। सुकरात से किसी बुद्धिमान पुरुष ने कहा था, "जीवन की माप उन घंटों से है जो आप जैसे महापुरुषों से सम्भाषण करते हुए बीते हों।" यदि हम हिसाब लगाने बैठें तो पता लग जायगा कि जीवन भर में ऐसे दिनों की संख्या कितनी कम है जब हमें उत्साहप्रद बातचीत सुनने के लिए मिली हो। वास्तव में भारत का वह युग सतयुग था, जब भगवान महावीर या भगवान गौतम बुद्ध जंगम तीर्थों के रूप में इस भूमि को पवित्र कर रहे थे। आज भी भिन्न-भिन्न धर्मों के उपदेशक उनकी नकल कर रहे हैं, पर उनमें से अधिकांश की वाणी ओजहीन है। मूर्ख जनता को छोड़कर और कोई उनसे प्रभावित नहीं हो सकता। घंटे भर की बातचीत से आपको पता लग सकता है कि धर्म का धंधा करनेवाले ये महानुभाव मनुष्यता की सबसे नीची सीढ़ी पर खड़े हुए हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि बैठे हैं। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आप क्या कहते हैं, पर यह कि आप क्या करते हैं ?

जिन व्यक्तियों के मन, वचन और कर्मों में सामंजस्य है, उन्हींके सदुपदेशों को हम प्रवचन के नाम से पुकार सकते हैं।

कैण्ट भोजन के समय कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पांच

आदमियों को अपने यहां प्रतिदिन न्यौता देते थे। ये लोग भिन्न-भिन्न पेशों के अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में रुचि रखनेवाले होते थे, पदाधिकारी, प्रोफेसर, धार्मिक पुरुष, सुसंस्कृत व्यापारी इत्यादि। नवयुवकों तथा विश्व-विद्यालय के योग्य विद्यार्थियों को खास तौर पर निमन्त्रित किया जाता था। इसका उद्देश्य यही था कि वार्तालाप भिन्न-भिन्न विषयों पर हो, उसमें रूखापन अथवा एकरसता न आने पावे और साथ ही वह गम्भीर भी बहुत न बन जावे। जिस किसी को कैण्ट के यहां भोजन करने का न्यौता मिल जाता था, वह अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता था। तीन-चार घंटे तक वार्तालाप होता रहता था। किसी की तबीयत ऊबने नहीं पाती थी। ऐसे अवसर पर कैण्ट अपनी विद्वत्ता को ताक पर रखकर साधारण भाषा में ही बातचीत करते थे। क्या मजाल कि एक भी दम्भपूर्ण बात उनके मुख से निकल जाय। नवीन आगन्तुक को तो यह देखकर आश्चर्य होता था कि इस प्रकार हंसी-मज़ाक करनेवाला व्यक्ति क्या कभी महान् दार्शनिक कैण्ट हो सकता है! कैण्ट ने यह नियम बना लिया था कि वे दर्शन-शास्त्र की उस शाखा की, जिसके कि वे अधिष्ठाता थे, चर्चा अपनी मेज पर कभी नहीं होने देते थे। अन्य प्रकार के विचार रखनेवालों के प्रति उनका बर्ताव पूर्ण सहिष्णुता का रहता था। दूसरों की तबीयत उबाने का सबसे सरल तरीका यह है कि आप अपने विषय की ही चर्चा करते रहें।

एडवर्ड कार्पेंटर की बातचीत का ढंग दूसरा ही था। वे व्यक्तियों से अलग-अलग बातचीत करते थे। टहलने में कभी किसी को साथ ले लेते थे तो कभी किसी को। चूंकि कारपेण्टर महोदय नगर से आठ मील की दूरी पर रहते थे, इसलिए उनके पास बहुत कम आदमी पहुंच पाते थे, फिर भी उनकी कीर्ति इतनी व्यापक हो गई थी कि कितने ही पुरुष और स्त्रियां वहां पहुंच ही जाते थे।

ए० ई० के यहां शनिवार अथवा रविवार को सन्ध्या समय साहित्यिक दरबार लगा करता था। ए० ई० उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए गरीबी का जीवन स्वीकार कर लिया था—

उनकी आमदनी सवासौ पये महीने से अधिक नहीं थी—इसलिए वे ही व्यक्ति उनके यहां पहुंचते थे, जिनको सर्वोच्च कोटि के मानसिक भोजन की रुचि थी। नवयुवक लेखकों तथा लेखिकाओं को प्रोत्साहन देना ए० ई० के जीवन का एक मुख्य कार्य था। स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के सम्भाषणों और प्रवचनों को जिन्होंने सुना है अथवा जो गान्धीजी के प्रात:कालीन उपदेशों को सुन चुके हैं, उन्हें साधारण सम्भाषणों में भला क्या आनन्द आ सकता है! आचार्य गिडवानीजी का सम्भाषण भी बहुत मनोरंजक होता था। माननीय श्रीनिवास शास्त्री की शिष्ट बातचीत का क्या कहना!

यहां हम अपनी रुचि की एक बात कह दें। कोरी शिष्टाचार वाली बातचीत हमें बिलकुल कृत्रिम जंचती है। जहां पर किसी प्रकार का बन्धन है, कृत्रिमता है अथवा दिखावट है वहां उच्च कोटि का स्फूर्तिप्रद वार्तालाप हो ही नहीं सकता।

यद्यपि हम साहित्य-सेवियों के लिए गोष्ठियों की आवश्यकता मानते हैं, पर एकान्त उनके लिए और भी ज्यादा जरूरी है। उस साहित्यिक से अधिक दयनीय कोई भी अन्य प्राणी नहीं जो दूसरों के मनोरंजन का साधन बन जाय। थॉरो से जब कभी कोई कहता था कि मैं आपके साथ टहलने के लिए चलना चाहता हूं तो वे प्राय: अस्वीकार ही कर देते थे। हम लोगों को यह बात न भूलनी चाहिए कि गोष्ठी अथवा एकान्त दोनों का उद्देश्य एक ही होना चाहिए, अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास। जो भी चीज इसमें बाधक हो, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। पालतू अथवा फालतू प्राणियों का संग्रह करना हमारा लक्ष्य थोड़े ही है। इस दुनिया में ऐसे महानुभावों की संख्या कम नहीं है जो दिन भर खूब पैसा कमाकर शाम को किसी साहित्य-सेवी के द्वारा अपना मनोरंजन करना चाहते हैं।

जिस किसी को गम्भीर और ठोस साहित्य-सेवा करनी है, उसे अपने समय की रक्षा करनी पड़ेगी चाहे निरर्थक आगन्तुकों के साथ उसे अशिष्टता का बर्ताव ही करना पड़े। सर जदुनाथ सरकार जितने वर्ष पटने में रहे,

उन्होंने किसी फालतू आदमी को अपने घर में नहीं घुसने दिया। न्यूयार्क के एक सम्पादक ने यह नियम बना लिया है कि जब कोई उनसे मिलने आता है तो वे उसे टहलने के लिए साथ ले लेते हैं और मीलों तक उसे घसीट ले जाते हैं! राजर्षि गोखले के गुरु न्यायमूर्ति रानडे ने एक और ही नियम बना लिया था। जभी कोई आता वे कहते, "बहुत अच्छे आये! लीजिये यह काम तो कीजिये। यहां-से-यहां तक नकल कर दीजिये।" इत्यादि।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है! सम्भाषण उसके लिए जरूरी है, लेकिन वह होना चाहिए उच्च धरातल पर। जो लोग उच्च धरातल पर नहीं मिल सकते, वही अपने सामान्य व्यसनों के द्वारा मिलते हैं। चौबों का मिलना स्वादिष्ट भोजन की ज्यौनारों में होता है, शराबियों का मयखाने में और चाय के पियक्कड़ों का टी-स्टाल पर। ताश और शतरंज के खिलाड़ी जगह-जगह बैठे मिलते हैं; पर साहित्य-गोष्ठी इनसे कुछ अलग ही चीज है। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि ये गोष्ठियां नीरस अथवा शुष्क धार्मिक बना दी जायं। गोष्ठी यदि सरस नहीं तो फिर उसका सारा रंग ही फीका हो जायगा। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इन गोष्ठियों में निरुद्देश्य आदमियों की भर्ती हर्गिज न होनी चाहिए।

आज जब कि सम्पूर्ण देश में एक भिन्न प्रकार का वायु-मंडल तैयार हो रहा है, हमें एक बात हर्गिज न भूलनी चाहिए, वह यह कि हमारे विनोद तथा आनन्द सर्वथा निर्दोष हों और उनमें किसी प्रकार का भी हलकापन न आने पावे। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, साहित्यिकों के लिए कोई भी विषय त्याज्य नहीं; पर उस विषय पर जो वाद-विवाद हो, उसमें तदनुरूप गम्भीरता होनी चाहिए।

साहित्यिकों को हम वास्तविक ब्राह्मण मानते हैं, फिर चाहे वे किसी धर्म,मजहब या फिरके के क्यों न हों, और ब्राह्मणत्व की काफी जिम्मेदारियां हैं। जिस प्रकार क्षत्रिय अथवा योद्धा जान देने को तैयार रहते हैं, उसी प्रकार जबतक साहित्यिक लोग अपने सिद्धान्तों की बलि-वेदी पर कुर्बान होने के लए उद्यत नहीं, तबतक वे अपनी वृत्ति के लिए सर्वथा अनधिकारी

हैं। जिन सम्भाषणों, प्रवचनों तथा गोष्ठियों का जिक्र हमने किया है वे सच्चे साहित्यिकों की ही होंगी। हलके दर्जे के मज़ाकों, सस्ते निमंत्रणों अथवा कोरमकोर गप्पाष्टकों से तो हमारी संस्कृति का धरातल नीचा हो जायगा। उस स्थिति में सच्चे साहित्यिक के लिए एकान्त-वास ही सर्वोत्तम चीज है। भगवान गौतम बुद्ध ने ठीक ही कहा था :—"एकस्य चरितं श्रेयो नास्ति वाले सहायता।" अर्थात्—मूर्खों के सहयोग की अपेक्षा यही उत्तम है कि अकेला विचरे।"

: १२ :

साहित्यिक भिक्षु

कुछ किताबें ऐसी हैं, जिन्हें मैं अपने मनोरंजन के लिए बार-बार पढ़ा करता हूं। सुप्रसिद्ध चीनी लेखक लिन यु टांग की 'जीवन का महत्व' (Importance of Living) उन्हीं ग्रन्थों में से एक है। इस पुस्तक में 'मिंग लिया उत्स की यात्राएं' शीर्षक एक अध्याय है, जिसमें उस चीनी भिक्षु के भ्रमण का मनोरंजनक वृत्तान्त दिया गया है। चीज बड़े मजे की है। भिक्षु महोदय घर से निकल पड़ते हैं और तीन वर्ष तक बराबर यात्रा किया करते हैं। आत्मज्ञान ही उनका उद्देश्य है; पर उनका दृष्टिकोण हमारे साधु-संन्यासियों की तरह नीरस नहीं। रास्ते में वे खाते, पीते, मौज करते चलते हैं। युक्ताहार-विहार की नीति के पक्षपाती हैं, गो कभी-कभी पी भी लेते हैं। कहीं कवि-सम्मेलन हुआ तो वे उसमें शामिल हो जाते हैं और अपनी कविता भी सुना देते हैं। उनका जीवन संयत है तथा दृष्टिकोण दार्शनिक और उसमें दम्भ का कोई नामोनिशान नहीं।

इस अध्याय को पढ़कर हमारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि क्या हमारे साहित्य को इस प्रकार के दम्भहीन भिक्षुओं की आवश्यकता नहीं ?

भिक्षु का आदर्श भारतीयों की रग-रग में व्याप्त है। 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय . . .' इत्यादि शब्दों द्वारा भगवान् बुद्ध ने अपनी शिष्य-मण्डली को मानव-समाज के कल्याण के लिए भ्रमण करने का आदेश दिया था। सहस्रों ही भिक्षुओं ने उनकी आज्ञा का पालन कर देश-विदेशों की यात्रा की, सैकड़ों ही इस प्रयत्न में मर मिटे, पर उन्होंने वह काम कर दिखाया, जो संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

इस प्रसंग में हमें श्री देवीप्रसाद राय चौधरी के एक चित्र 'कुमारजीव की चीन-यात्रा' का स्मरण आ रहा है। इस चित्र में हमें कुमारजीव तथा अन्य तीन भिक्षुओं के दर्शन होते हैं, जो धर्म-प्रचारार्थ चीन-यात्रा के उद्देश्य से हिमालय की ओर जा रहे हैं। हिमालय की बर्फ से ढकी हुई चोटियां दूर से दीख रही हैं। मार्ग बड़ा भयंकर है, पर भिक्षु लोग दृढ़ आशा के साथ कदम बढ़ाते हुए चले जा रहे हैं। इन कुमारजीव ने चीन पहुंचकर चीनी साहित्य के लिए जो महान् कार्य किया; उसे इतिहास के प्रेमी भली-भांति जानते हैं। उन्होंने चीनी भाषा पर अद्‌भुत अधिकार प्राप्त कर लिया और लगभग सौ महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और इस प्रकार चीनी भाषा में अपना नाम अमर कर लिया और भारत के गौरव को संसार की दृष्टि में कहीं ऊंचा उठा दिया।

आधुनिक काल में भी स्वर्गीय भिक्षु अखण्डानन्द तथा महापंडित राहुलजी ने जो कार्य कर दिखाया है, उससे किसी भी साहित्यिक को प्रेरणा मिल सकती है। पर किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए कपड़े रंगाने की आवश्यकता नहीं। हां, उसका मन साहित्य-प्रेम से अनुरंजित अवश्य होना चाहिए।

भारत में त्याग तथा तप की भावना के लिए जो महान् श्रद्धा सहस्रों वर्ष से चली आ रही है वही किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए सबसे बड़ा सहारा है। यहां लखपति साहित्यिक कभी वैसी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकता, जो किसी भिक्षु को मिल सकती है। विदेशों की बात दूसरी है। और विदेशों में भी महान् लेखकों का लक्ष्य अर्थप्राप्ति नहीं रहा।

ए० ई० ने अपने किसी मित्र को एक पत्र में लिखा था:

"आपने अपनी पुस्तक में एक बात बड़े मार्के की लिखी है और वह मुझे सत्य, कल्याणकारी और बुद्धिमत्तापूर्ण जंची, यानी आपने कलाकारों और कवियों को यह आदेश दिया है कि वे स्वेच्छापूर्वक निर्धनता का व्रत ग्रहण कर लें। आयरलंड में हम सभी गरीब हैं और इससे हममें से किसी का कुछ नुकसान नहीं हुआ। मेरे जीवन के सबसे अधिक आनन्ददायक दिन वे

थे, जब मैं पचास पौण्ड प्रति वर्ष से भी कम पर अपनी गुजर करता था और भोग-विलास की किसी चीज को खरीदने के लिए मेरे पास पैसा ही नहीं था; पर निर्धनता के उन दिनों में हम दिन-दिन भर और लम्बी रात तक पृथ्वी और स्वर्ग न जाने कितने विषयों पर वार्तालाप किया करते थे और जो-कुछ पढ़ते उसका मनन करते रहते थे। अब भी मैं बड़ी किफ़ायतशारी के साथ रहता हूं। मेरी निश्चित आमदनी एक सौ पौण्ड प्रति वर्ष है। क्या इससे मेरा जीवन कुछ दुःखी है? नहीं.जनाब, बिलकुल नहीं। कितने ही कलाकारों की यह आकांक्षा रहती है कि हमारे पास मोटरकार चढ़ने के लिए हो, बंगला रहने के लिए और खूब पैसा मौज करने तथा मित्रों को पार्टियां देने के लिए। नतीजा यह होता है कि उन्हें अपनी प्रतिभा दूसरों को बेच देनी पड़ती है.....।"

ए० ई० के उपर्युक्त शब्दों में वस्तुतः भारतीय आदर्श का ही समर्थन हुआ है।

इसका अभिप्राय आप यह न समझें कि मैं अनिच्छापूर्वक लादी हुई गरीबी का समर्थन करता हूँ। वह तो एक बहुत ही फालतू चीज है। यदि किसी साहित्यिक के मन में मोटरों में घूमने की अथवा वायुयान द्वारा यात्रा करने की या एयर कंडीशण्ड रेल के डिब्बे में सफर करने की तीव्र लालसा विद्यमान हो तो उसे अवश्य ही उसकी पूर्ति कर लेनी चाहिए। बच्चों को मिठाई खाने से कौन रोकता है? बजातेखुद इन चीजों के भोगने में कोई बुराई नहीं है—बुराई है उनको महत्व देने में अथवा उनके लिए लालायित रहने में।

आज भी कितने ही व्यक्ति निमंत्रित होकर भिन्न-भिन्न स्थलों की यात्रा किया करते हैं और कुछ शिष्टमंडल भी इधर-से-उधर जाया करते हैं। इन यात्राओं से पर्याप्त लाभ भी होता है, पर उस यात्रा में, जिसके प्रतीक कुमारजीव थे, और इन यात्राओं में जमीन-आसमान का फर्क है। इनमें सबसे अधिक अनाकर्षक हैं धनसंचय के लिए जानेवाले शिष्टमंडल।

साहित्यिक भिक्षु में यदि फक्कड़पन नहीं तो फिर कुछ भी नहीं।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा-पद प्राप्त हो जाने के बाद यह सर्वथा स्वाभाविक है कि अनेक मनचले प्रकाशकों और लेखकों के मन में यह भावना उत्पन्न हो कि इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहिए। साहित्य-सरोवर के इन मगरमच्छों की यात्रा से जनता को कोई लाभ नहीं।

हमारी साहित्यिक भिक्षु की कल्पना इससे बिलकुल भिन्न ही है। कहीं वे पुस्तकालय खुलवायेंगे तो कहीं हिन्दी की संस्थाओं के उत्सव करायेंगे और कहीं वसन्त व्याख्यानमाला का आयोजन। कहीं वे हिन्दी अध्यापकों का संगठन करेंगे तो अन्यत्र अपने अनुभवों से नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करेंगे। प्राचीन लेखकों तथा कवियों के साहित्यिक श्राद्ध की व्यवस्था उनका एक उद्देश्य होगा। एक काम वें कभी नहीं करेंगे —अपने लिए या अपनी किसी संस्था के लिए चन्दा! और उनकी सम्पूर्ण सेवा स्वाभाविक ही होगी, किसी पर अहसान लादने के लिए नहीं।

अन्य प्रान्तों में जहां प्रान्तीय भाषाओं का बोलबाला है, हमें अपने सर्वोत्तम व्यक्ति ही भेजने चाहिए। यदि हमने निम्नकोटि के आदमी भेजे तो हमारी राष्ट्रभाषा के गौरव को वह धक्का लगेगा, जिससे वह कभी न पनपेगी।

हम जहां कहीं भी जायं सीखने की भावना से जायं। विनम्रता और शिष्यत्व की भावना की हमें आज सबसे अधिक जरूरत है। विश्व की भाषाओं में हिन्दी को स्थान दिलाने के स्वप्न जो लोग देखा करते हैं, क्या उन्होंने कभी यह कल्पना भी की है कि उसके लिए हमें कितनी साधना करनी पड़ेगी, कितना त्याग करना पड़ेगा?

एक ओर जहां हमें गौरीशंकर हीराचंद ओझा और काशीप्रसाद जायसवाल उत्पन्न करने होंगे तो दूसरी ओर सैकड़ों हिन्दी मिशनरी भी। महात्मा गांधी की वह बात मुझे अभी तक याद है जो उन्होंने आज से तीस वर्ष पूर्व साबरमती आश्रम में कही थी। बड़े खेद के साथ उन्होंने कहा, "मुझे हिन्दी के मिशनरी चाहिए, जो तुम्हारे यहां नहीं मिलते। महाराष्ट्र में मिशनरी स्पिरिट वाले युवक खूब मिलते हैं। मेरे पास पटवर्धन था जो पन्द्रह

रुपये में गुजर करता था। मैं चाहता हूं कि तीस-तीस रुपये देकर हिन्दी के सैकड़ों प्रचारकों को गुजरात में भर दूं, पर वे मुझे मिलते कहां है ?" महात्माजी के इस प्रश्न का उत्तर मौन के सिवाय और क्या हो सकता था ?

एक बार सेवाग्राम में—यह सन् १९४५ की बात है—मैंने महात्माजी की सेवा में निवेदन किया :

"महात्माजी, आप दस-बारह लाख रुपये इकट्ठे कीजिए और उत्तर-भारत के दिल्ली जैसे केन्द्रीय स्थल में दक्षिण भारत की भाषाओं के अध्ययन, अध्यापन का प्रबन्ध कर दीजिए। तमिल, तेलुगु, मलायलम और कन्नड़ भाषा के पढ़ाने का कोई इन्तजाम हमारे यहां नहीं है।"

इसपर महात्माजी ने कहा, "बात तो तुमने मेरे मन की कही है और दस-बारह लाख रुपये जमा कर देना भी मेरे लिए कोई मुश्किल काम नहीं। पर सवाल यह है कि इस काम को उठानेवाला तुम्हारे यहां है कौन ? जीवराज मेहता मुझे मिल गए तो मैंने कमला नेहरू अस्पताल का काम पूरा करा दिया। उन्हींकी तरह का योग्य आदमी मुझे मिल जाय तो उत्तर भारत में दक्षिण की भाषाओं के अध्यापन का काम भी हो सकता है।" महात्माजी उपरोक्त कोटि के यज्ञों के लिए होताओं की तलाश में रहते थे। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए उन्होंने जो महान् कार्य किया, तदर्थ उनका नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। अब हमारा कर्त्तव्य है कि उनके प्रारम्भ किये यज्ञों के लिए याज्ञिक तैयार करें। मेरा यह निवेदन है कि परिव्राजक ही ऐसे याज्ञिक बन सकते हैं। अंग्रेज़ी की एक कविता इस प्रसंग में हमें याद आ रही है :

"If you give all and life retain
I say all your gift is in vain"

अर्थात्—"यदि तुम अपना सर्वस्व-दान कर दो, पर अपना जीवन अपने लिए सुरक्षित रखो तो मैं कह सकता हूं कि तुम्हारा वह सर्वस्वदान निरर्थक है।"

हमारी राष्ट्र-भाषा की मांग है ऐसे व्यक्तियों से, जो अपना जीवन ही

उसके लिए अर्पित कर सकें, पर होने चाहिए वे सजीव व्यक्ति। बहुधन्धी साहित्यिक मठाधीश, जिन्होंने संस्थाएं पाल रक्खी हैं, राष्ट्र-भाषा के लिए अधिक काम न कर सकेंगे ।

राजनैतिक क्षेत्र में जिस प्रकार सैकड़ों, सहस्रों भारतीयों ने अपने जीवन को खपा दिया, उसी प्रकार साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी अपने को खपानेवाले व्यक्ति हमें चाहिए।

सन् १९१५ में हमें पहले पहल शान्तिनिकेतन जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और तबसे लेकर १९४० तक न जाने कितनी बार हमने उक्त साहित्यिक तीर्थ की यात्रा की थी। इस बीच पचासों ही बार हमने कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन किये थे और यह देखकर हमें निरंतर आश्चर्य होता रहा कि वे किस प्रकार अपने को खपा रहे हैं। गुरुदेव को अनेकों यात्राएं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करनी पड़ीं। यद्यपि अपनी संस्था के लिए उन्हें कभी-कभी चन्दा भी करना पड़ा; पर यह कार्य उनकी रुचि के सर्वथा प्रतिकूल ही था।

संस्थाओं के हम विपक्ष में नहीं हैं, हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए वे प्रायः बन्धन ही हो सकती हैं।

जिस कोटि के साहित्यिक भिक्षुओं की बात हमने लिखी है वे मिलें कहां ? यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। इसका जवाब एक ही हो सकता है —

"जिस आदमी की तुम तलाश में हो, वह खुद ही बन जाओ"।

: १३ :

एक स्वप्न

सुप्रसिद्ध अमरीकन लेखक थॉरो ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'वाल्डन'। इस पुस्तक में एक जगह लिखा है, "अपने प्रयोग से कम-से-कम एक बात मैंने सीखी है। वह यह कि कोई व्यक्ति उस दिशा में जिसकी उसने स्वप्न में कल्पना की थी, विश्वासपूर्वक आगे बढ़ता रहे, और अपने कल्पित जीवन के अनुसार अपनी ज़िन्दगी और रहन-सहन को बना ले तो उसे आगे चलकर ऐसी सफलता मिलेगी, जिसकी आशा उसने साधारण तौर पर कभी न की थी। वह कुछ चीजों को पीछे छोड़ देगा और अदृश्य सीमाओं का उल्लंघन कर जायगा। नवीन और विश्वव्यापी तथा अधिक उदार नियम उसके हृदय में तथा उसके चारों ओर कायम होने लगेंगे अथवा पुराने नियमों का विकास उसकी परिस्थिति के अनुकूल होने लगेगा और उच्चकोटि के प्राणी की भांति रहने की स्वतंत्रता उसे मिल जायगी। जितने अंश में वह अपने को सादा बनाता जायगा, दुनिया के कानूनों की उलझनें उसके लिए सुलझती जायंगी। एकान्त उसके लिए एकान्त न रहेगा। निर्धनता निर्धनता न रहेगी, कमजोरी कमजोरी न रह जायगी। अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं तो कोई मुज़ायका नहीं। इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नहीं होगा। महल तो हवा में ही बनाये जाने चाहिए। बस, अब उसके नीचे नींव रख दो।"

वर्षों से थॉरो के 'वाल्डन' को मैं उषाकाल के स्वाध्याय के तौर पर पढ़ता रहा हूं और अपने हवाई महल बनाता रहा हूं। ये महल बनते और बिगड़ते रहे हैं।

मेरी कल्पना का एक हवाई महल वास्तविक जगत में अभी तक

अवतीर्ण नहीं हो सका और इसका कारण मैं अपनी साधना की कमी ही मानता हूं। पर मुझे विश्वास है कि वह कमी कभी-कभी मूर्तिमान होकर रहेगी। यह दूसरी बात है कि उसे साक्षात करने का श्रेय किसी समान-शील और समान धर्म वाले नवयुवक साहित्यिक को प्राप्ति हो। वह नवयुवक आज किसी विद्यालय में पढ़ रहा होगा अथवा किसी पत्र के कार्यालय में काम कर रहा होगा। मैं उसका हृदय से अभिनन्दन करता हूं।

मेरा हवाई महल एक साहित्योपवन के रूप में है। चूंकि ईंट, चूना, सीमेंट और पत्थर को हम अधिक महत्व नहीं देते, इसलिए हमारे कल्पित साहित्योपवन में केवल एक ही पक्का भवन है जिसके पांच विभाग हैं। स्वर्गीय प्रोफेसर गीडीज इस विषय में मेरे आदर्श हैं। उन्होंने एडिन-बरा में एक पचतल्ला मकान बनवा दिया था। उसका नाम था 'आउटलुक टावर'। उसका ढांचा मुझे पसन्द आया है। फर्क इतना ही है कि मैंने अपने हवाई महल को वन और जलाशय के निकट मुक्ताकाश के नीचे बनाया है।

सबसे ऊंचे तल्ले पर बैठकर मैं अपने स्थल तथा जनपद की साहित्यिक गतिविधि का अध्ययन करता हूं। बहुत दिन पहले से यह बात मेरी समझ में आ गई थी कि मेरे जैसे एक साधारण साहित्यिक के लिए अपने जनपद का कार्य ही पर्याप्त है। अखिल भारतीय साहित्यिक हिन्दी जगत में एक दर्जन भी न होंगे। अपनी सीमा को जान लेने—अपनी परिस्थितियों का अन्दाज लगा लेने—में ही हम सबका कल्याण है। अन्य जनपदों में अपने क्षुद्र जीवन के तैंतीस वर्ष गंवाकर मैंने ब्रजमंडल को ही अपना कार्य-क्षेत्र मान लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरा यह हवाई महल ब्रज में या उसकी सीमा के आसपास ही विद्यमान है।

घोर दुर्भाग्य की बात है कि आज ब्रज रेगिस्तान बनता जा रहा है। हम ब्रजवासियों के पूर्वजों नें वनों को नष्ट करके अपनी हरी-भरी भूमि को मरुस्थल में परिवर्तित कर दिया था और उसके दुष्परिणाम हम लोग—उनके वंशज—भोग रहे हैं।

आज से कितने वर्ष पूर्व ब्रज-कोकिल सत्यनारायण ने द्रवित हृदय से कहा था,

देखन को बस रह गये मधुवन सेवा कुञ्ज

और आज प्रत्येक ब्रजवासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने जनपद को पहचाने और फिर उसे प्राचीन काल की तरह हरा-भरा बनाने का प्रयत्न करे। यदि रूस के साम्यवादी लोग अपने मास्को नगर में लाखों वृक्ष उगाकर उसे संसार की सबसे हरी-भरी राजधानी बनाने जा रहे हैं तो क्या हम लोग मथुरा, वृन्दावन, आगरा, भरतपुर तथा फीरोजाबाद में बीसियों उपवनों की स्थापना करके उनके सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य में वृद्धि नहीं कर सकते ?

अपने साहित्योपवन से जो प्रथम ग्रन्थ मैं प्रकाशित कर रहा हूं वह है ब्रज-अभिनन्दन-ग्रन्थ। लोगों का गुणगान करने की बजाय अब हमें अपने-अपने जनपदों का अभिनन्दन करना चाहिए। ब्रजभूमि के सुन्दर-सुन्दर स्थलों की खोज कर ली गई है और उनकी रक्षा करने की योजना बना ली गई है। हमारे साहित्योपवन की तरह की बीसियों संस्थाएं ब्रज में उत्पन्न हो गई हैं और वे एक-दूसरे के अधीन न होकर पूर्ण स्वाधीनता के साथ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अपने साहित्योपवन को मैं प्रगतिशील रखने के पक्ष में हूं। मैं उन दकियानूसी आदमियों में से नहीं हूं जो आधुनिक वैज्ञानिक जगत की सुविधाओं से लाभ उठाने से हिचकिचाते हैं। साहित्योपवन में रेडियो भी है और टेलीफोन भी। चूंकि हम लोगों के पास स्थान की कमी नहीं है, साहित्यिक कार्यकर्ताओं की कुटीरें एक-दूसरे से काफी दूर बनी हैं, जिससे यह एक-दूसरे के मार्ग में बाधक न हों। प्रत्येक के व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता है और उनकी भिन्न-भिन्न रुचियों का खयाल रखा जाता है। न कोई शासक है, न कोई शासित। सबके प्रातःकाल सुरक्षित हैं। साहित्योपवन में अभी पन्द्रह-बीस साहित्यिक रहते हैं। स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम तो अनिवार्य रखे गये हैं, इसलिए प्रातःकाल वन-भ्रमण में सभी

सम्मिलित हैं। मेरा कार्यक्रम सुन लीजिये।

उषाकाल है। प्रातःकालीन चाय के साथ मैं किसी स्वाध्याय-ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा हूँ और उस समय जो विचार आते हैं उन्हें नोट करता जाता हूं। स्वर्गीय लाला हरदयाल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आत्म-संस्कृति के उपाय' (हिन्ट्स फार सेल्फ-कलचर) में ध्यान की जो पद्धति बताई है, वह मुझे प्रिय है। संसार की प्रगतिशील शक्ति के जगत् में जो भी आन्दोलन उसकी आध्यात्मिक, सामाजिक, शारीरिक और आर्थिक उन्नति करने के लिए हो रहे हैं उनका, जो लोग इस समय दुखी हैं उनका, और जो संघर्षमय जीवन बिता रहे हैं उनका, मैं प्रातःकाल के समय ध्यान करता हूं। ध्यान के बाद नित्य नैमित्तिक क्रियाओं से निवृत्त होकर हम लोग वन-भ्रमण के लिए जाते हैं। कोई एक दिशा में जाता है तो कोई दूसरी दिशा में। एक वटवृक्ष की छाया में एकत्रित होकर दिनभर के कार्य का प्रोग्राम निश्चित किया जाता है :

क महाशय आज जनपदीय लोकवार्ताओं का सम्पादन करेंगे।

ग प्रान्त की नदियों के जीवन-चरित का मसाला इकट्ठा करेंगे और यमुना नदी के विषय में एक लेख लिखकर किसी मासिक तथा साप्ताहिक पत्र को भेजेंगे।

घ स्वर्गीय साहित्यिकों की जन्म-तिथियों और पुण्यतिथियों का ब्यौरा तैयार करेंगे।

च अमरीकन डाइजेस्ट के महत्वपूर्ण लेख का अनुवाद करेंगे।

छ बंगला के प्रवासी के प्रमुख लेख का अनुवाद करेंगे

ज इन लेखों की बारह-बारह प्रतियां टाइप कराके भिन्न-भिन्न पत्रों को भेजेंगे।

झ पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी के लिए कार्यक्रम तैयार करेंगे।

ट इस महीने के सर्वोत्तम साहित्यिक ग्रन्थ का परिचय लिखेंगे।

ठ भिन्न-भिन्न पत्रों में प्रकाशित साहित्यिक लेखों की कतरन लेकर विषयानुसार रजिस्टरों में चिपकायंगे।

ड अपने तथा पास-पड़ोस के जनपदों के साहित्यिकों की यात्राओं के बारे में पूछताछ करेंगे।

ढ इस ऋतु के लिए, घुमक्कड़-दलों का आयोजन करेंगे।

त अन्य प्रान्तीय भाषा में निकलनेवाले साहित्य का विवरण एकत्रित करेंगे।

थ पुस्तकालय के लिए नवीन ग्रन्थों को मंगाने का प्रबन्ध करेंगे।

द आज सन्ध्या की साहित्य-गोष्ठी का इन्तज़ाम करेंगे।

ध आस-पास के ग्रामों की यात्रा का प्रबन्ध करेंगे।

इस प्रकार पारस्परिक सलाह-मशविरे द्वारा अपना-अपना कार्यक्रम निश्चित करके हम लोग अलग हो जाते हैं। एक आम्र निकुन्ज के नीचे बैठकर मैं अपना साहित्यिक कार्य प्रारम्भ करता हूं। 'सस्ता साहित्य मंडल' ने उन विदेशी महापुरुषों के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ छपाने का निश्चय कर लिया है, जिनका प्रभाव महात्मा गांधी की विचारधारा पर पड़ा था। एमर्सन की जीवनी मुझे लिखनी है। 'वाल्डन' का अनुवाद हमारे एक साथी कर रहे हैं और टाल्सटाय तथा गैरीसन के जीवन-चरितों का सम्पादन हो चुका है। मेरे चारों ओर हरियाली-ही-हरियाली है। रंहट चल रहा है और उपवन के वृक्षों को पानी दिया जा रहा है। चिड़िया चहचहा रही है। आमों का रखवाला गोफन में भर-भर कर मिट्टी के ढेले चला रहा है। काम करते-करते तबियत कुछ ऊबती है तो टहलने लगता हूं, अथवा किसी मनोरंजक ग्रन्थ से मन-बहलाव करने लगता हूं। जब कि मैं ये पंक्तियां लख रहा हूं, दो ग्रन्थ मेरे पास विद्यमान हैं। काउन्ट केसरलिंग की एक तो 'टेबिल डायरी आव ए फिलास्फर' और दूसरी 'यू मस्ट रिलीज़।'

कभी मन में उमंग आ गई तो पत्र लिखना आरम्भ कर दिया। जो बातें लेख लिखते समय नहीं सूझतीं, प्रायः किसी सहृदय मित्र को चिट्ठी लिखते समय सूझ जाती हैं।

जीवन को हम एकांगी नहीं बनाना चाहते हैं और न बुद्धिजीवियों को श्रमजीवियों से अलग रखना चाहते हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि

जो भी साहित्यिक अपने आसपास की जनता की क्रियात्मक सेवा से अपने को वंचित रखता है वह स्वयं अपने को पंगु बनाता है। जबतक बुद्धिजीवी लोग श्रम करना न सीखेंगे और श्रमजीवियों को अपने मस्तिष्क के विकास की सुविधाएं न मिलेंगी, हमारी यह मातृभूमि सुखी तथा समृद्धशाली न बन सकेगी। पर हमारा विश्वास श्रम-विभाजन में है। जो मनुष्य जिस काम को भली-भांति कर सकता है और जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो, उसे वही काम सौंपना चाहिए।

अपने साहित्योपवन में साहित्यिक बिजली-घर बनाने के लिए उत्सुक हूं, जहां से ठोस तथा प्रचारात्मक साहित्य भिन्न-भिन्न केन्द्रों को भेजा जा सके। मानसिक भोजन को मैं अन्न-वस्त्र की समस्या के बाद सर्वोच्च स्थान देता हूं। केवल रचनात्मक कार्य, यदि उसके साथ साहित्य-संगीत-कला का समावेश नहीं किया गया, जीवन को शुष्क ही बना देगा।

मन में एक प्रश्न उठता है। पन्द्रह-बीस करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषी तथा हिन्दी-प्रेमियों में क्या पन्द्रह नवयुवक भी ऐसे न निकलेंगे, जो पन्द्रह-बीस वर्ष में इस स्वप्न को चरितार्थ करके दिखा सकें?

मानव-जीवन में स्वप्नों का जो महत्व है, उससे कौन इन्कार कर सकता है? जो जातियां स्वप्न नहीं देख सकतीं—भविष्य की कल्पना नहीं कर सकतीं—वे नष्ट हो जाती हैं। यदि हम अपने देश की आत्मा को सजीव बनाये रखना चाहते हैं तो हमें एक-दो नहीं, बीसियों छोटे-बड़े साहित्योपवन बनाने होंगे।

पर जातियों तथा जनप ों, देशों और संस्थाओं से भी ऊपर की एक चीज है, और वह है स्वयं अपनी आत्मा। आज के युग में उसी की स्वाधीनता को सबसे बड़ा खतरा है।

हमारा हवाई महल ह जाता है। साहित्योपवन सूख जाता है। पर सससे हम निराश क्यों हों? किसी नीम वृक्ष के नीचे बैठकर हम उसी के स्वप्न देखेंगे और यदि साहित्योपवन न भी बन सका तो नीम निकुन्ज तो बन ही जायगा।

: १४ :

वसन्तोत्सव कैसे मनाया जाय ?

जब किसी जाति में क्रियात्मक कल्पना-शक्ति का अभाव हो जाता है तो वह अपने प्राचीन गौरव का गान करने और पुराने रीति-रिवाजों की निर्जीव नकल करने में ही अपने जीवन को सार्थक समझने लगती है। बाह्य आडम्बरों की रक्षा को वह अधिक आवश्यक समझती है और आन्तरिक भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। यदि इस कथन के लिए दृष्टान्त चाहिए, तो हमारे उत्सवों को देख लीजिए। इन उत्सवों के मनाने की विधि के भद्देपन को देखकर यही प्रतीत होता है कि हम लोग सचमुच 'साहित्य-संगीत-कला-विहीन' हो गये हैं। हम लोगों में कुछ-न-कुछ श्रद्धा अवश्य है; पर हम उसे उचित रूप से प्रकट नहीं कर सकते। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में वसन्तोत्सव मनाये जाते हैं और थोड़ा-बहुत पैसा भी खर्च किया जाता है। यदि इसे ढंग के साथ मनाया जाय, तो संस्कृति की दृष्टि से यह उत्सव अत्यन्त महत्वपूर्ण बन सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस उत्सव के मनाने की विधि में साहित्य, संगीत और कला का यथोचित समावेश किया जाय। इसी उद्देश्य से यहां एक कार्यक्रम उपस्थित किया जाता है :

सबसे पहली बात तो यह है कि वसन्तोत्सव नगर के कोलाहल से दूर किसी उपवन में मनाया जाय। नाना प्रकार के ऊधमों के बीच शहर की धुआंधार गन्दी गलियों में वसन्तोत्सव मनाना वसन्त का मजाक उड़ाना है और अपने को हास्यास्पद बनाना है। यदि वसन्त मनाना है तो किसी उपवन में चलिये, जहां आम्रमंजरी आपको निमन्त्रण दे रही है, वृक्षों की नवीन कोंपल नवजीवन का सन्देश सुना रही है और सुन्दर सुगन्धित पुष्प

आपके हृदय को प्रफुल्लित करने की बाट जोह रहे हैं। अभी उस दिन हम एक जापानी पत्र (ओसाका असाही) का अंग्रेज़ी विशेषांक देख रहे थे। उसमें जापानियों के प्राकृतिक सौन्दर्य-प्रेम का वृत्तान्त पढ़कर आश्चर्य हुआ। सुनिये, जापानी लोग वसन्त में क्या करते हैं–

"जब चेरी-पुष्पों के खिलने का समय आता है तो वसन्त ऋतु में उन्हें देखने के लिए सहस्रों ही आदमी जाया करते हैं। यह वसन्त-यात्रा जापानी जीवन की एक उल्लेखयोग्य वार्षिक घटना हुआ करती है। जहां तक इतिहास से पता चलता है, पहले पहल सन् ८१२ में सम्राट सग के राज्य में इस यात्रा का प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद इस प्रकार की यात्राएं सम्पूर्ण जनता में लोकप्रिय हो गईं। सन् १९१२ में मार्क्विस योरीमीची तोकूगावा के प्रोत्साहन से जापान में एक 'चेरी तरु समिति' (Cherry Tree Society) की स्थापना हुई थी। इस समिति के सदस्य वैज्ञानिक तथा साहित्यिक दृष्टि से चेरी-वृक्ष तथा चेरी-पुष्प का अध्ययन करते हैं और अपने अध्ययन के परिणाम 'चेरी' नामक पत्र में प्रकाशित करते हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है कि चेरी-वृक्ष तथा चेरी-पुष्पों से जापान के साहित्य और ललित कलाओं को बहुत कुछ प्रेरणा मिली है।"

क्या ही अच्छा हो, यदि हम लोग भी अपने नवयुवकों के हृदय में इसी प्रकार का सौन्दर्य-प्रेम उत्पन्न करें।

वसन्तोत्सव के कार्यक्रम को हम कई विभागों में बांट सकते हैं :

(१) वसन्त-पंचमी के दिन किसी उपवन में कवि-सम्मेलन, संगीत तथा खेल-कूद इत्यादि द्वारा मनोरंजन।

(२) साहित्यिक यात्रा—किसी प्राचीन साहित्य-सेवी की जन्मभूमि अथवा अन्य किसी विशेष स्थान की यात्रा।

(३) अधिकारी विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान, उदाहरणार्थ, कला, संगीत, इतिहास इत्यादि के विषय में भाषण।

वसन्तोत्सव को हम लोग इतना उपयोगी और मनोरंजक बना सकते हैं कि इसके द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की रुचि का बहुत-कुछ विकास

हो सकता है । यदि इस कार्य को संगठित रूप से किया जाय तो सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में अद्भुत जाग्रति उत्पन्न हो सकती है। भिन्न-भिन्न स्थानों में हिन्दी के धुरंधर भाषणों का प्रबन्ध कराना असम्भव न होगा। इतिहास, कला, साहित्य आदि के विषय में अधिकारी व्यक्तियों के भाषण कराये जा सकते हैं। बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ इत्यादि भाषाओं के साहित्य के विषय में भी भाषण दिलाना लाभ-दायक होगा। हमारी भाषा को राष्ट्र-भाषा का पद मिला है तो हमारा कर्त्तव्य है कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में जो कुछ अच्छा है, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करें और अपनी सेवाओं द्वारा उनकी भी वृद्धि में सहायक हों। हमने सुना है कि वसन्त व्याख्यान-माला का प्रबन्ध महाराष्ट्र में कितने ही वर्षों से किया जाता है। उसे ग्रहण कर हम और भी व्यापक रूप दे सकते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के शान्तिनिकेतन में वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव मनाये जाते हैं। क्यों न हम लोग एक बार चलकर इन उत्सवों को देखें और उनमें जो-कुछ अच्छा हो, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करें ?

अमेरिका में साधारण जनता के लाभार्थ 'चाटाकुआ शिक्षा-पद्धति' प्रचलित है। वह पत्र-व्यवहार द्वारा, स्थान-स्थान पर ग्रीष्म-विद्यालय खोलकर तथा भ्रमणशील समितियों द्वारा अमेरिका में शिक्षा-प्रचार करती है। प्रसंगवश हम उसकी भ्रमणशील समितियों का संक्षिप्त वृत्तान्त यहां देना उचित समझते हैं।

जनता में शिक्षा-प्रचार के अतिरिक्त चाटाकुआ सप्ताह की प्रथा भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। सबसे प्रथम वर्ष के दस दिनों तक होने वाले सम्मेलन की प्रथा को अधिक उपयोगी और अधिक लाभप्रद बनाने के लिए इस संस्था के संचालकों ने चाटाकुआ भ्रमणशील समितियों (Chatahqua circuits) की स्थापना की। इस समय ऐसी समितियों की संख्या ८७०० तक पहुंच गई है। ये समितियां संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के भिन्न-भिन्न शहरों में खोली गई हैं। इन समितियों ने

जनता में शिक्षा फैलाने में बहुत बड़ा भाग लिया है। प्रत्येक समिति वर्ष में आसपास के छः शहरों में एक ही तारीख में चाटाकुआ-सप्ताह का समारोह करती है। इस समारोह के लिए प्रत्येक नगर में एक विशाल मंडप बनाया जाता है, जिसे बहुत अच्छी तरह सुसज्जित किया जाता है। प्रति दिन की कार्रवाई विशेष मनोरंजक और शिक्षाप्रद बनाई जाती है। सबेरे कई विषयों पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान कराए जाते हैं। दोपहर के बाद संगीत और वाद्यादि तथा रात को नाटक, प्रहसन, भिन्न-भिन्न खेल अथवा बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और प्रसिद्ध पुरुषों के विविध विषयों पर उपयोगी भाषण होते हैं। एक वक्ता एक शहर में पहले दिन भाषण देकर दूसरे शहर में चला जाता है, और वहां भाषण देकर तीसरे दिन तीसरे शहर में चला जाता है। इस तरह कुछ कार्यकर्त्ता ही छः शहरों में सप्ताह-समारोह मनाने के लिए काफी होते हैं।

चाटाकुआ में व्याख्यान देने के लिए अपने-अपने विषय के प्रामाणिक विद्वानों, योग्य वक्ताओं और उत्तम प्रचारकों को निमन्त्रित किया जाता है। केवल अमेरिका के ही नहीं, यूरोप के विद्वान भी यहां व्याख्यान देने के लिए बुलाये जाते हैं। बड़े-बड़े विद्वान यहां व्याख्यान देने में अपना सम्मान समझते हैं। केवल उत्तम वक्ता और योग्य विद्वान ही नहीं, उत्तम नाटक, अभिनय और प्रहसन आदि में अत्यन्त प्रवीण पुरुषों को निमंत्रित किया जाता है। वहां एक पुरुष एक सत्र (सेशन) में ऐसे अच्छे-अच्छे अभिनय, संगीत और भिन्न-भिन्न वाद्य सुन सकता है, जिनकी उसने पहले कभी कल्पना भी न की होगी। सुप्रसिद्ध पहलवान आकर वहां लोगों को विविध प्रकार से व्यायाम आदि भी सिखाते हैं।

यह एक ऐसी संस्था है—ऐसा शिक्षण-क्रम है—जिससे जनता की बौद्धिक और नैतिक उन्नति की जा सकती है। प्रसिद्ध अमेरिकन रूजवेल्ट ने इस अपूर्व शिक्षण-पद्धति के लिए कहा था कि अमेरिका में सबसे अधिक अमेरिकन चीज यही है। यह एक व्यावहारिक पद्धति है। शिक्षा-जगत् में इसने क्रान्ति कर दी है। आज अमेरिका ही नहीं, यूरोप में भी इस पद्धति का

पर्याप्त अनुकरण हुआ है।"

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हिन्दी-भाषा-भाषियों में ऐसे विद्वान् मौजूद हैं, जिनके कारण हम प्रान्तीय भाषा-भाषियों के सम्मुख अपना मस्तक ऊंचा कर सकते हैं। कमी हमारे यहां है तो यही कि शिक्षा और संस्कृति के लिहाज से औसतन हिन्दी वाले अन्य भाषा-भाषियों से पीछे हैं। इस कमी को दूर करने के लिए ही उपर्युक्त कार्यक्रम रखा गया है। वाद-विवाद के बाद इसमें बहुत कुछ घटा-बढ़ी हो सकती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जो संस्था इसको अपनावेगी, वह जनता का हित करने के साथ-साथ अपना प्रभाव भी व्यापक बना सकेगी।

: १५ :

हमारे साहित्यिक उत्सव

फीरोजाबाद में भारती भवन पुस्तकालय में तुलसी-जयन्ती का उत्सव था। समय रक्खा गया था रात के साढ़े आठ बजे। भारती-भवन जहां पर स्थित है वहां अनेक गन्दी गलियों को पार करके जाना पड़ता है। फीरोजाबाद के व्यापारी-समाज को साढ़े आठ या नौ बजे से पहले अवकाश नहीं मिलता और मुख्यतया उनकी सुविधा के लिए रात का वक्त रक्खा जाता है। हम समझते हैं कि किसी साहित्यिक के भाग्य की इससे बदतर विडम्बना नहीं हो सकती कि उसे अनधिकारी आदमियों की फुर्सत का खयाल करके अपनी बात कहनी पड़े।

उत्सवों को हम चित्त की स्फूर्ति या आनन्द के लिए अथवा श्राद्ध की भावना से मनाते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि वे उपयुक्त वायु-मंडल में मनाये जावें।

हमारे यहां प्राचीन काल में 'अभ्यूष खादनिका' नामक पिकनिक मनाये जाते थे और उनका उद्देश्य होता था चना, उड़द, मटर, गेहूं, जौ इत्यादि को कच्ची अवस्था में भून कर खाना। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में 'हावुस' झुलसे हुए अन्न को कहते हैं, जो अभ्यूष का वंशज मालूम होता है।

बाजार से जामुन मोल लेकर खाने और खुद पेड़ पर चढ़कर जामुन तोड़ने में जमीन-आसमान का अन्तर है।

टपकी परत बहार लदी जामुन जामुनतर।
भारत 'जंबू द्वीप' कहावत जनु जिनही पर ॥

कविवर सत्यनारायण की इन पंक्तियों की सत्यता अनुभव की जा

सकती है ।

ऋतुओं के उत्सव मनाने की प्रथा हमारे यहां से प्राय: लुप्त हो चुकी है । उसके उद्धार करने की जरूरत है । ग्रीष्म-उत्सव, वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव आदि तो बिलकुल असाम्प्रदायिक ढंग पर हिन्दू-मुसलमान सभी मना सकते हैं ।

ऐसे उत्सवों के अनुकूल हम लोग कवि-सम्मेलन और मुशायरे भी कर सकते हैं । इन कवि-सम्मेलनों में प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों की भी कविताओं का पाठ होना चाहिए ।

नदी तट हो । उधर आकाश में घटा उमड़ रही हो और इधर महाकवि कालिदास के ऋतुसंहार की कविताओं का पाठ हो रहा हो ! मूल न सही, पं. श्रीधर पाठक-कृत अनुवाद ही सही :

नीले सरोजन के दल की कहुं,
लीनो मनोहर गाढ़ी लिलाई ।

कीनी कहूं कजरा के कलाप की,
सोभा सनी रमनीक निकाई ।।

गर्भवती अबलान की त्यों,
छतियान की छीनी कहूं कमनाई ।।

घेरि रहीं हैं घटा नभ में,
चहुं ओर अनोखी छटा छवि छाई ।।

× × ×

बहु वेग बड़े गदले जल सों,
तट रूख उखारि गिरावती हैं ।।

करि घोर कुलाहल व्याकुल ह्वै,
थल कोर करारन ढावती हैं ।।

मरजादहि छांड़ि चलीं कुलटा,
सम विभ्रम भौंर दिखावती हैं ।

इतराति उतावरी बावरी सी,
सरिता चढ़ि सिन्धु कों धावती हैं।

और सत्यनारायणजी का 'पावस-प्रमोद' भी बहुत सामयिक होगा–

जारि जवासे जोर जचावन मोर नचावन
करखा धूम रचावन बरखा धूम मचावन
कारी कारी अंधियारी भारी झपकावन
टप टप टपका टपका घर बागन टपकावन।

अन्य ऋतुओं के उत्सव कैसे मनाये जायं, इसके लिए विद्वानों से परामर्श कर लेना चाहिए। कुछ उत्सव जनपदीय होंगे, कुछ प्रान्तीय और कुछ अखिल भारतीय। ये उत्सव देश की परिस्थिति के अनुकूल और समय की गति को देखकर मनाने चाहिए।

जयन्तियों अथवा पुण्य-तिथियों के विषय में हमें सर्वथा उदार दृष्टिकोण से काम लेना चाहिए। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सर मुहम्मद इकबाल दोनों ही की जयन्ती और पुण्य-तिथि हमें मनानी चाहिए। रोम्यां रोलां और गोर्की के जन्म-दिवस तथा पुण्यतिथि को हम कैसे भूल सकते हैं? महाकवि हाली और नज़ीर अकबराबादी के जन्मदिवस हम क्यों न मनावें? हमने सुना है कि नज़ीर की समाधि पर पहले एक मेला हुआ करता था, जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों शामिल हुआ करते थे। उस मेले के पुनरुद्धार की ज़रूरत है। साथ ही हमें कबीर-मेले का भी आयोजन करना चाहिए।

कृष्ण कन्हैया के बालपन पर इतनी बढ़िया कविता सूरदास को छोड़कर और किसने लिखी है? और मुनाजाते बेवा (विधवा विलाप) के लेखक हाली को तो हम हिन्दी कवि मानते हैं। हाली-शताब्दी पर हमने पानीपत की तीर्थ-यात्रा की थी। क्या ही अच्छा हो यदि कुछ हिन्दी-लेखक और कवि पानीपत की यात्रा करें!

हमारे आसपास के ग्रामवासी भी हमारे उत्सवों में शामिल हो सकें ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए। यदि बरसात का मौसम हो तो आल्हाखंड के

गाये जाने का इन्तजाम किया जा सकता है और ख्याल भी गवाये जा सकते हैं। बुन्देलखंड में सैरों के गाये जाने का आयोजन हो सकता है। ईसुरी की फागों का रंग जम सकता है। जनपदीय भाषाओं की कविताओं का आश्रय लिये बिना हम अपने ग्रामीण भाइयों को आकर्षित न कर सकेंगे। यह बात हमें न भूलनी चाहिए कि हमारी भाषा तथा संस्कृति की जड़ ग्रामों में है और ग्रामों के साथ हमें सजीव सम्बन्ध बनाये रखना है।

अपने कवियों या लेखकों की स्मृति को ताज़ा बनाये रखने के लिए हमें उनके नाम पर वाचनालय अथवा पुस्तकालय कायम करने चाहिए और कुछ न कर सकें तो उनके नाम पर दो-चार वृक्ष ही उगा दें। तुलसी उपवन या रहीम बाग की स्थापना करना वास्तव में कहीं अधिक लाभदायक होगा।

एक यूरोपियन महाकवि हैनरिक वर्जीलैंड अपनी जेब में बराबर वृक्षों के बीज लिये हुए घूमते थे और नित्यप्रति टहलते हुए वे उन बीजों को उपयुक्त स्थानों में गाड़ देते थे। यही नहीं, वे अपने मित्रों से भी कहा करते थे कि आप भी ऐसा ही कीजिये। उनका कहना था कि न जाने कौन बीज उगकर कैसा वृक्ष बन जावे और आस-पास के दृश्य को कितना सुन्दर बना दे!

नार्वे के महान् लेखक जॉनसन ने उनके स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर अपने भाषण में कहा था कि वर्जीलैंड का यह कार्य उनकी सर्वोत्तम कविताओं से भी अधिक काव्यमय था।

हमारा देश रेगिस्तान बनता जा रहा है और यदि हम लोगों ने वृक्षों का उगाना प्रारम्भ न किया तो कुछ वर्षों में ही हमें अपने उत्सव रेत के टीलों पर धूल फांकते हुए मनाने होंगे।

जो व्याख्यानदाता इन उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए बुलाये जावें उन्हें अपने भाषण पहले से तैयार कर लेने चाहिए। तत्काल जो मन में आया, अंट-संट बक देने की प्रथा-सी हमारे यहां पड़ गई है। इसे बन्द करना चाहिए।

मान लीजिए—हमारे श्रोताओं की संख्या एक सौ है और हम आध घंटा समय लेते हैं तो श्रोताओं के पचास घंटे तो हमने ले लिये। यदि हम अपने भाषण की तैयारी में चार-पांच घंटे भी व्यय न करें तो फिर जनता के पचास घंटे लेने का हमें क्या अधिकार है ?

हमारे यहां कल्पना-शक्ति का कितना अभाव है और पारस्परिक सहयोग की कितनी कमी है, इसके प्रमाण हमें पग-पग पर मिलते हैं। फीरोजाबाद में उत्सव हो रहा है; पर टूंडला से उसका कोई सम्बन्ध नहीं ! गोरखपुर में एक बहुत ही बढ़िया कवि-सम्मेलन हुआ था, जिसमें दो-ढाई हज़ार रुपए खर्च हुए थे; पर पास के छपरे ज़िले को उसकी कुछ खबर ही न थी।

उत्सवों के विषय में हमारा एक निश्चित विश्वास है और वह यह कि उत्सवों के प्रारम्भ के पूर्व दो सप्ताह तक आस-पास के ग्रामों तथा नगरों में काफी प्रचार किये बिना यह उत्सव सफल नहीं बनाये जा सकते। जो कवि या वक्ता महोदय उत्सवों पर पधारें उनसे भी एक-दो दिन आस-पास के स्थलों के लिए लेने चाहिए। हमें उपस्थित विद्वानों तथा कवियों के सत्संग का सौभाग्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को देना चाहिए।

कहीं-कहीं उल्टी बात देखने में आती है। वह यह कि स्थानीय लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहित करने के लिए एक धेला भी खर्च नहीं किया जाता और बाहर से आनेवालों को सौ-सौ दो-दो सौ, रुपये भेंट कर दिये जाते हैं। इसमें सामंजस्य की ज़रूरत है। अपने स्थानीय लेखकों तथा कवियों की योग्यता को बढ़ाने के लिए हम जो-कुछ भी करें, थोड़ा होगा। उन्हें पढ़ने के लिए ग्रन्थ मिलने चाहिए और यात्राओं के लिए मार्ग-व्यय। आखिर तो हमें उन्हीं लोगों पर निर्भर रहना है, बाहर से तो कभी-कभी ही साहित्यिक या कवि बुलाये जा सकते हैं।

हम लोगों का जीवन इतना नीरस हो गया है कि उसमें रस का संचार करने के लिए हमें उत्सवों की विधिवत व्यवस्था करनी होगी। केवल राजनैतिक जाग्रति ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जाग्रति भी होनी चाहिए।

: १६ :

जनपदों का पुनर्निर्माण

"जिस जाति में स्वप्नदर्शी व्यक्ति नहीं होते, वह नष्ट हो जाती है।" अमरीकन ऋषि एमर्सन का यह कथन सर्वथा सत्य है। आज हमारे संपूर्ण देश को, प्रत्येक प्रान्त और जनपद को, बल्कि हम तो यहां तक कहेंगे कि प्रत्येक ग्राम को स्वप्नदर्शी और क्रियाशील व्यक्तियों की आवश्यकता है।

हमारा मुल्क आज़ाद हो गया है। उसे आबाद करना है। हरा-भरा बनाना है और उस महान् यज्ञ के लिए सहस्त्रों-लक्षों कार्यकर्त्ताओं की जरूरत पड़ेगी। ये कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न कोटि के होंगे, जिनके बीच में छोटे-बड़े का भेद नहीं हो सकता। किसान-मजदूर के शारीरिक श्रम तथा लेखक व कवि के मानसिक श्रम में छुटाई-बड़ाई का मापदंड क्या कोई हो सकता है? किसी भवन के निर्माणार्थ इंजीनियर, कारीगर और मजदूर सभी का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। दंभी हैं वे, जो अपने कार्य को तो महत्वपूर्ण समझते हैं और दूसरों के कार्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

निस्संदेह आज की सबसे बड़ी समस्या हमारे लिए अन्न-वस्त्र की है—"भूखे भजन न होय गुपाला।" हमें स्वयं स्वेच्छापूर्वक अपने साहित्य को ही नहीं, अपने जीवन-क्रम को भी युगधर्मानुकूल बना लेना चाहिए। जो भी साहित्यिक इस समय किसी उत्पादक श्रम में भाग नहीं लेता, कम-से कम घंटा-सवा घंटा प्रतिदिन अन्न-वस्त्र के उत्पादन में अथवा स्वच्छता आदि के कार्यक्रम में शरीक नहीं होता, वह अपने जनपद या प्रांत के प्रति सच्चा नहीं है, अपने देश के प्रति वफादार नहीं है; बल्कि वह अपनी साहित्यिक आत्मा को भी निर्जीव बना रहा है। अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति संवेदनशील होने में ही सजीवता है और हमारे देश को सजीव साहित्यिकों

की जितनी आवश्यकता इस समय है, उतनी पहले कभी नहीं थी।

अन्न-वस्त्र की समस्या के हल हो जाने के बाद मानसिक भोजन का प्रश्न आता है। इसका अभिप्राय यह हर्गिज नहीं है कि जबतक दस फीसदी अनाज की कमी पूरी न हो जाय, तबतक के लिए हम सत्साहित्य के निर्माण का कार्य ही स्थगित कर दें। यह तो जबरदस्त भूल होगी। दोनों कार्य साथ-साथ चल सकते हैं और चलाये जाने चाहिए। एकांगी विचार-धारा हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए विघातक ही सिद्ध होगी।

मानव-समाज के सामने भावी समाज की यदि कोई कल्पना न होगी तो वह "साक्षात्-पुच्छ विषाणहीन-पशु" बन जायगा—साहित्य-संगीत-कला-विहीन को कवि ने इन्हीं शब्दों से स्मरण किया है। इस प्रसंग में हमें आयरलैंड के प्रसिद्ध कवि और कलाकार ए० ई० के शब्द याद आ रहे हैं:

"अर्थशास्त्री हमें दैनिक रोटी दे सकते हैं, पर भावी दिनों के लिए जिस भोजन की जरूरत प्रभु ईसा ने बतलाई थी, उसका प्रबन्ध तो कोई दूसरे ही करेंगे। यह कार्य है कवियों का, कलाकारों का, गायकों का और उन वीर तथा उदार महापुरुषों का, जिनका जीवन नमूने के तौर पर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शों को जन्म दे सकते हैं, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा। कलाकारों का कर्त्तव्य है कि वांछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करें, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलावें और राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खींच कर रख दें। आयरलैंड की विफलता की जिम्मेदारी है हमारे उन कवियों पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से बिलकुल बिछुड़ गये और जो अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग छेड़ते रहे और साथ ही उस विफलता की जिम्मेदारी उन लेखकों पर भी है, जिन्होंने मानव-स्वभाव के महत्व पर ध्यान देने के बजाय उसकी क्षुद्रताओं का ही वर्णन करना उचित समझा।"

क्या हमारी ब्रजभूमि में ऐसे कल्पनाशील कवि और लेखक विद्यमान हैं, जो २५-३० वर्ष आगे का स्वप्न देख सकें?

आज तो ब्रजभूमि के सामने सबसे बड़ा खतरा यह है कि वह रेगिस्तान बनती जा रही है। वनों तथा उपवनों के नष्ट हो जाने का दुष्परिणाम हमारी ब्रजभूमि को भुगतना पड़ रहा है और ब्रजभूमि को बचाने के लिए हमें राजस्थान का पुर्नानिर्माण करना होगा; क्योंकि ब्रज और राजस्थान के भाग्य एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि इसपर उत्तर प्रदेशीय तथा राजस्थानी सरकारों के अधिकारी एक परामर्शदात्री परिषद् बुला सकते हैं। इनके साथ ही मध्य भारत की सरकार से भी सलाह-मशविरा ले लेना चाहिए, क्योंकि ब्रजभूमि के कुछ भाग मध्यभारत में भी हैं।

हम यह आशा रखते हैं कि हमारे ब्रज-संबंधी जनपदीय कार्यक्रम में उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्यभारत की सरकारें सहायक हों। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सुविधा के खयाल से हमें अपने विस्तृत देश को छोटे-छोटे भूमि-खंडों में विभाजित करना है।

ब्रज-संस्कृति की रक्षा के लिए ब्रजभूमि के प्रति प्रेम उत्पन्न करना अनिवार्यतः आवश्यक है। ब्रज-संस्कृति को हम गो-संस्कृति कह सकते हैं। अपने भाषण में एक मित्र ने कहा था—

"इस ब्रजभूमि में द्वापर-काल में दो महापुरुषों ने यहां की समस्या बुनियादी ढंग पर हल की थीं। एक भाई ने धरती माता की रक्षा की और वे 'हलधर' कहलाये और दूसरे भाई ने गाय को संभाला और 'गोपाल' कहलाये। गोपाल और हलधर के समन्वय से यहां दूध की नदियां बहती थीं और धरती माता हमें धन-धान्य से पूरित करती थी। भंडार भरे थे। उस समय विटामिन की चर्चा नहीं थी; पर देश को प्राणपोषी भोजन, दुग्ध, घी और मट्ठा अपरिमित मात्रा में प्राप्त होते थे। अब भी वही गोपाल की भूमि है। यहीं पर कभी भागवत का निर्माण हुआ था। किंतु आज कितने दुःख की बात है कि आज़ाद होने पर हमें दूसरे देशों के सामने अन्न के लिए हाथ पसारना पड़ता है!"

पिछले दिनों हमने पत्रों में पढ़ा था कि गोवर्द्धन-पर्वत को फिर से हरा-

भरा बनाने की योजना उत्तर प्रदेशीय सरकार के सामने उपस्थित है। यह पढ़कर हमें जापान की एक घटना का स्मरण हो आया। जापान के एक पहाड़ पर आग लग जाने से तमाम वृक्ष जल गए। नतीजा यह हुआ कि पर्वत बिलकुल नग्न हो गया। दूसरे ही वर्ष वर्षा के आरम्भ होते ही आस-पास के ग्रामों के हजारों जापानी अपनी ओर से एक-एक वृक्ष लेकर उस पहाड़ पर गए और वहां सहस्त्रों नवीन वृक्षों को उन्होंने रोप दिया। आठ-दश वर्षों में वह पर्वत ज्यों-का-त्यों हरा-भरा हो गया।

केवल सरकारी मदद के भरोसे गोवर्द्धन हरा-भरा नहीं हो सकता, 'व्रज' के अपने नाम को सार्थक करने की बात तो रही बहुत दूर! व्रज का अर्थ ही था "वह हरी-भरी भूमि, जहां गौएं चरती हैं।"

आज से ३५-४० वर्ष पूर्व कविरत्न सत्यनारायणजी ने 'भ्रमर दूत' में कहा था—

पहले कौ सौ अब न तिहारौ यह वृंदाबन।
याके चारों ओर भयें बहुविधि परिवर्तन॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन-पुंज।
देखन कों बस रह गये, निधिबन—सेवाकुंज॥
कहां चरिहैं गउ ?
नहिं बरसावत सघन अब, नियमपूर्वक नीर।
जासों गोकुल होत सब, दिन-दिन परम अधीर॥
न्यार सपनौ भयौ॥

जनता के हृदय में वृक्षों के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

हमें अपने जनपद के वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी-सरोवर और मनुष्य सभी के प्रति आत्मीयता का अनुभव करना है। ऋषिवर अरविंद घोष ने एक जगह लिखा था कि नदियों की मैं मातृवत् पूजा करता हूं और महाकवि कालिदास ने सरयू नदी को भगवान् की माता के रूप में स्मरण किया है, जिसकी गोद में खेल-खेल कर वे बड़े हुए थे। मथुरा में 'जय जमना मैया की' कहने

वाले तो सैकड़ों मिले, पर जमना माता का जीवन-चरित लिखने की कल्पना भी जिसके दिमाग में हो, ऐसा कोई न मिला।

ब्रज के दो रूप हैं : एक तो आध्यात्मिक और दूसरा भौगोलिक। हम दोनों के ही प्रेमी हैं। जहां पर भी ब्रज-संस्कृति का कोई भी अनन्य प्रेमी रहता है, चाहे वह प्रशांत महासागर के किसी द्वीप में हो या दक्षिण अमरीका के ब्रिटिश गायना में, वहीं वास्तविक ब्रजभूमि है—'सबै भूमि गोपाल की जामें अटक कहा!' इसके सिवाय ब्रज का दूसरा रूप भी है—यानी वे क्षेत्र जहां ब्रजभाषा बोली जाती है। ब्रजभाषा कभी काव्य की भाषा थी और आज भी वह बोली के रूप में जीवित और जागृत है। ब्रज से ३४-३५ वर्ष बाहर रहने के बाद हम उसके माधुर्य का जितना अनुभव कर सकते हैं, उतना वे लोग नहीं कर सकते, जो निरंतर ब्रज ही में रहते हैं। 'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नांहीं'—भगवान् की यह महत्वपूर्ण उक्ति ब्रज के वियोग के बाद की ही है।

अब समय आ गया है, जब कि ब्रजभूमि के प्रेमियों को अपने जनपद के पुर्ननिर्माण के लिए एक कार्यक्रम बनाना चाहिए।

अपने दृष्टिकोण को हमें बिलकुल स्पष्टता के साथ जनता के सम्मुख उपस्थित करना है। इसीलिए हम उसे दुहराये देते हैं—

(१) साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य की सुविधा के लिए हम क्षेत्रों का विभाजन चाहते हैं। अब वह युग सदा के लिए लद चुका है, जब बृहदाकार प्रांतों के प्रति कोई भक्ति उत्पन्न की जा सके। पहले के पश्चिमोत्तर प्रदेश, बीच के संयुक्त प्रांत और अबके उत्तर प्रदेश के प्रति कोई भक्ति कैसे उत्पन्न करे?

(२) बोलियों को हम जीवित रखना चाहते हैं। एकता का नारा बुलंद करके खड़ी बोली के स्टीम रोलर द्वारा हम ब्रजभाषा अथवा बुंदेलखंडी, अवधी या भोजपुरी के सौष्ठव को नष्ट नहीं करना चाहते।

(३) अपने क्षेत्र में हम हिंदी अथवा उर्दू, खड़ी बोली अथवा ब्रजभाषा इत्यादि के झगड़ों से सर्वथा दूर रहना चाहते हैं। ब्रज-मंडल के

साहित्यिक प्रोग्राम में हम नजीर अकबरावादी के काव्य-संग्रह को देवनागरी लिपि में छपाने की योजना उसी प्रकार कर सकते हैं, जिस प्रकार ख्यालगो लोगों के इतिहास लिखाने की।

(४) बोलियों में रीडरें लिखाने के हम घोर विरोधी हैं।

(५) प्रत्येक जनपद के लिए हम सर्वांगीण कार्यक्रम बनाने के पक्षपाती हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई ब्रजभूमि में उपवन लगाता है तो उसका कार्य हम किसी भी हालत में किसी कवि के खंड काव्य से कम महत्वपूर्ण नहीं समझते। फलदार वृक्षों के रोपण और कविता-निर्माण में छोटे-बड़े का भेद नहीं किया जा सकता। अच्छे दुग्धालय अथवा कृषि-फार्म का कार्य साहित्य-सेवा से कम महत्व नहीं रखता।

संक्षेप में यों कहिये कि जनपदों के पुनर्निर्माण के पीछे एक दर्शन है, एक फिलासफी है, एक दृष्टिकोण है। हम यह मानते हैं कि आगे चलकर यह आंदोलन एक प्रबल रूप पकड़ सकता है और कभी ब्रज विश्वविद्यालय भी स्थापित कर सकता है; किन्तु उससे डरने का कोई कारण हमें नहीं दीखता। यदि शांतिनिकेतन और पांडिचेरी में विश्वविद्यालय कायम हो सकते हैं तो ब्रजभूमि का क्षेत्रफल तो उनसे कई सौ गुना अधिक होगा और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हमें प्रत्येक जनपद के निवासियों के सम्मुख एक स्वप्न रखना है कि आगे चलकर उनका भूखंड कितना सुंदर, समृद्ध और सुसंस्कृत बन सकता है। यही नहीं, उस स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए ठोस रचनात्मक कार्य भी करना है।

प्रांतीयता की भावना को हम देश के लिए घोर विघातक मानते हैं, पर प्रांतीयता और प्रांत-प्रेम में जमीन-आसमान का फर्क है। जो व्यक्ति जिस प्रांत या जनपद में रहता हो, उसे अपनी भक्ति और सेवा सर्वप्रथम उसीको अर्पित करनी चाहिए।

सुप्रसिद्ध रूसी लेखक चैखव ने एक बार कहा था—"यदि प्रत्येक मनुष्य उस भूखंड को, जो उसे मिला हुआ है, सुंदर बना दे, तो समस्त संसार

कितना सुंदर बन जाय !"

अपनी सीमित शक्तियों द्वारा परिमित क्षेत्र में जो ठोस रचनात्मक कार्य हम कर सकेंगे, वह हमारे लिए कल्याणकारी होगा। विश्व की प्रगतिशील विचारधाराओं का ध्यान करते हुए छोटे-से-छोटे ग्राम में भी महत्वपूर्ण काम किया जा सकता है।

: १७ :

हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित

सन् १६४१। कोई तीन सौ वर्ष पहले की बात है। एक भावुक हिन्दी-कवि के मन में नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव वे देख चुके थे। अनेक संकटों में से वे गुजर चुके थे, कई बार बाल-बाल बचे थे। कभी चोर-डाकुओं के हाथ जान-माल खोने की आशंका थी तो कभी फांसी पर लटकने की नौबत आने वाली थी। कई बार तो वे भयंकर बीमारियों से मरणासन्न हो गए थे। गार्हस्थिक दुर्घटनाओं का शिकार उन्हें अनेक बार होना पड़ा था। एक के बाद एक उनकी दो पत्नियों की मृत्यु हो चुकी थी और उनके नौ बच्चों में से एक भी जीवित नहीं रहा था। अपने जीवन में उन्होंने अनेक रंग देखे थे, तरह-तरह के खेल खेले थे। कभी वे आशिकी के रंग में सराबोर रहते थे तो कभी धार्मिकता की धुन उनपर सवार थी। एक बार तो आध्यात्मिक फिट के वशीभूत होकर उन्होंने वर्षों के परिश्रम से लिखा अपना नवरस का ग्रन्थ गोमती नदी के हवाले कर दिया था! तत्कालीन साहित्य-जगत् में उन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी थी, और यदि किंवदन्तियों पर विश्वास किया जाय तो उन्हें महाकवि तुलसीदास के सत्संग का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ था, बल्कि उनसे यह सर्टिफिकेट भी मिला था कि 'आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है।' सुना है, शाहजहां बादशाह के साथ शतरंज खेलने का अवसर भी उन्हें प्रायः मिलता रहता था। संवत् १६९८ (सन् १६४१) में अपनी तृतीय पत्नी के साथ बैठे हुए और अपने चित्र-विचित्र जीवन पर दृष्टि डालते हुए यदि उन्हें किसी दिन आत्म-चरित का विचार सूझा हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ;
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहै ठूँठ से होइ।

अपने जीवन के पतझड़ के दिनों में लिखी हुई इस छोटी-सी पुस्तक से यह आशा उन्होंने स्वप्न में भी न की होगी कि वह सौ वर्ष तक हिन्दी-जगत् में उनके यश:शरीर को जीवित रखने में समर्थ होगी ।

कविवर बनारसीदास के आत्म-चरित 'अर्द्धकथानक' को आद्योपान्त पढ़ने के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस ग्रन्थ का एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है, जो इसे अभी कई सौ वर्ष और जीवित रखने में सर्वथा समर्थ होगी । सत्य-प्रियता,स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा जबर्दस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तक की इतनी सरल है और साथ ही यह इतनी संक्षिप्त भी है कि साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति में इसकी गणना अवश्यमेव होगी । हिन्दी का तो यह प्रथभ आत्म-चरित है ही; पर अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं ।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि कविवर बनारसीदास का दृष्टिकोण आधुनिक आत्म-चरित लेखकों के दृष्टिकोण से बिलकुल मिलता-जुलता है । अपने चारित्रिक दोषों पर उन्होंने पर्दा नहीं डाला है, बल्कि उनका विवरण इस खूबी के साथ दिया है, मानो कोई वैज्ञानिक तटस्थ वृत्ति से कोई विश्लेषण कर रहा है । आत्मा की ऐसी चीर-फाड़ कोई अत्यन्त कुशल साहित्यिक सर्जन ही कर सकता था । यद्यपि कविवर बनारसीदास एक भावुक व्यक्ति थे (गोमती में अपने ग्रन्थ को प्रवाहित कर देना और सम्राट अकबर की मृत्यु का समाचार सुनकर मूर्च्छित हो जाना उनकी भावुकता के प्रमाण हैं), तथापि इस आत्म-चरित में उन्होंने भावुकता को स्थान नहीं दिया । अपनी दो पत्नियों, दो लड़कियों और सात लड़कों की मृत्यु का जिक्र करते हुए उन्होंने केवल यही कहा है :

तत्व दृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भांति ;
ज्यों जाकौ परिगह घटै, त्यों ताकौ उपसांति ।

यह दोहा पढ़कर हमें प्रिंस क्रोपाटकिन की आदर्श शैली की याद आ

गई। उनका आत्म-चरित १९वीं शताब्दी का सर्वोत्तम आत्म-चरित माना जाता है। उसमें उन्होंने अपने अत्यन्त प्रिय अग्रज की मृत्यु का जिक्र केवल एक वाक्य में किया था—"कितने ही महीनों तक हमारी कुटी पर दुःख की घटा छाई रही।" यह बात ध्यान देने योग्य है कि एलेक्ज़ेण्डर क्रोपाटकिन ज्योतिर्विज्ञान के बड़े पण्डित थे, ज़ार की रूसी नौकरशाही ने निरपराध ही उन्हें साइबेरिया में निर्वासित कर दिया था और वहां से लौटते समय उन्होंने आत्मघात कर लिया था।

कविवर बनारसीदास आत्म-चरित लिखने में सफल हुए, इसके कई कारण हैं। उनमें एक तो यह कि उनके जीवन की घटनाएं इतनी वैचित्र्य-पूर्ण हैं कि उनका यथाविधि वर्णन ही उनकी मनोरंजकता की गारण्टी बन सकता है। दूसरा कारण यह है कि कविवर में हास्य-रस की प्रवृत्ति अच्छी मात्रा में पाई जाती थी। अपना मजाक उड़ाने का कोई मौका वे नहीं छोड़ना चाहते थे। कई महीनों तक वे एक कचौड़ी वाले से दुवक्ता कचौड़ी खाते रहे थे। फिर एक दिन उन्होंने एकान्त में उससे कहा :

तुम उधार कीनौ बहुत, आगे अब जनि देहु।
मेरे पास किछू नहीं, दाम कहां से लेहु ?

पर कचौड़ीवाला भला आदमी निकला और उसने उत्तर दिया—

कहै कचौरी वाल नर, बीस रुपैया खाहु।
तुम सौं कोऊ न कछु कहै, जहां भावै तहां जाहु॥

वे निश्चिन्त होकर छः-सात महीने तक दोनों वक्त भर-पेट कचौड़ियां खाते रहे, और फिर जब पैसे पास हुए तो १४) रु० देकर हिसाब भी साफ कर दिया।

कविवर बनारसीदास कई बार बेवकूफ बने थे और अपनी मूर्खताओं का उन्होंने बड़ा मनोहर वर्णन किया है। एक बार किसी धूर्त संन्यासी ने आपको चकमा दिया कि अगर तुम अमुक मन्त्र का जाप पूरे साल-भर तक बिलकुल गोपनीय ढंग से पाखाने में बैठकर करोगे तो वर्ष बीतने पर घर के दरवाजे पर एक अशर्फी रोज मिला करेगी। उन्होंने इस कल्पद्रुम मन्त्र

का जाप उक्त दुर्गन्धिमय वायुमंडल में विधिवत् किया; पर स्वर्णमुद्रा तो क्या, उन्हें कानी कौड़ी भी न मिली।

बनारसीदासजी का आत्म-चरित पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम कोई फिल्म देख रहे हैं। कहीं पर वे चोरों के ग्राम में लुटने से बचने के लिए तिलक लगाकर ब्राह्मण बनकर चोरों के चौधरी को आशीर्वाद दे रहे हैं तो कहीं अपने साथी-संगियों की चौकड़ी में नाच रहे हैं या जूतम पैजार का खेल खेल रहे हैं :—

कुमती चारि मिले मन मेल। खेला पैजारहु का खेल।
सिर की पाग लेंहि सब छीन। एक एक कौं मारसि तीन।

एक बार घोर वर्षा के समय इटावे के निकट उन्हें एक उद्दण्ड पुरुष की खाट के नीचे टाट बिछाकर अपने दो साथियों के साथ लेटना पड़ा था। उस गंवार धूर्त ने उनसे कहा था कि मुझे तो खाट के बिना चैन नहीं पड़ सकती और तुम इस फटे हुए टाट को मेरी खाट के नीचे बिछा कर उसपर शयन करो।

एवमस्तु बानारसि कहै। जाहि जैसी पर सो सहै
जैसा कातै तैसा बुनै। जैसा बोवै तैसा लुनै।
पुरुष खाट पर सोया भले। तीनों जने खाट के तले।

एक बार आगरे को लौटते हुए कुर्रा नामक ग्राम में उनपर और उनके साथियों पर झूठे सिक्के चलाने का भयंकर अपराध लगाया गया था और उन्हें तथा उनके अन्य १८ साथी यात्रियों को फांसी लगाने के लिए सूली भी तैयार कर ली गई थी! उस संकट का ब्यौरा भी रोंगटे खड़े करने वाले किसी नाटक-जैसा ही है। उस वर्णन में भी उन्होंने अपनी हास्य-प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा।

सबसे बड़ी खूबी इस आत्म-चरित की यह है कि वह ३०० वर्ष पहले के साधारण भारतीय जीवन का दृश्य ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देता है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे कुछ प्रतिभाशाली साहित्यिक इस दृष्टान्त का अनुकरण कर आत्म-चरित लिख डालें। यह कार्य उनके लिए और भावी

जनता के लिए भी बड़ा मनोरंजक होगा। बकौल बंधुवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के शब्दों में—

'आत्म-रूप-दर्शन में सुख है, मृदु आकर्षण-लीला है,
और विगत जीवन-संस्मृति भी स्वात्म-प्रदर्शनशीला है,
दर्पण में निज बिम्ब देखकर यदि हम सब खिच जाते हैं,
तो फिर संस्मृति तो स्वभावतः नरहिय-हर्षणशीला है।

स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'चैतालि' में 'सामान्य लोक' शीर्षक एक कविता लिखी है, जो इस प्रकार है:—

'सन्ध्या बेला लाठि कांखे बोझा बहि शिरे
नदी तीरे पल्लीवासी घरे जाय फिरे
शत शताब्दी परे यदि कोनो मते
मन्त्रबले, अतीतेर मृत्युराज ह'ते
एइ चाषी देखा हये मूर्त्तिमान
एइ लाठि कांखे लये विस्मित नयन
चारि दिके घिरि तारे असीम जनता
काड़ाकाड़ि करि लबे ता'र प्रति कथा
'ता'र सुख—दुःख यत ता'र प्रेम - स्नेह
ता'र पाड़ा प्रतिवेशी ता'र निज गेह
ता'र क्षेत ता'र गरु ता'र चाष वास
शुने-शुने किछु तेइ मिटिबे न आश !
आजि याँर जीवनेर कथा तुच्छतम
से दिन शुनाबे ताहा कवित्वेर सम।'

अर्थात्—"सन्ध्या-समय कांख में लाठी दबाए और सिर पर बोझ लियें कोई किसान नदी के किनारे-किनारे घर को लौट रहा है। अनेक शताब्दियों के बाद यदि किसी प्रकार मन्त्र-बल से अतीत के मृत्यु-राज्य से वापस बुलाकर इस किसान को मूर्त्तिमान दिखला दिया जाय तो आश्चर्य-चकित होकर असीम जनता उसे चारों ओर से घेर लेगी और उसकी प्रत्येक कहानी

को उत्सुकतापूर्वक सुनेगी । उसके सुख-दुःख, प्रेम-स्नेह, पास-पड़ोसी, घर-द्वार, गाय-बैल, खेत-खलिहान इत्यादि की बातें सुनते-सुनते जनता अघायगी नहीं । आज जिसके जीवन की कथा हमें तुच्छतम दीख पड़ती है, वह शत-शताब्दियों के बाद कवित्व की तरह सुनाई पड़ेगी"

मान लीजिए, यदि आज हमारी मातृभाषा के २०-२५ लेखक विस्तार-पूर्वक अपने अनुभवों को लिपिबद्ध कर दें तो सन् २२५४ में वे उतने ही मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बन जायंगे, जितने कि कविवर बनारसीदासजी के अनुभव आज प्रतीत होते हैं ।

गदर को हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं । अभी हमारे देश में ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जिन्होंने सन् १८५७ का गदर देखा था । इस गदर का आंखों-देखा विवरण एक महाराष्ट्र यात्री श्रीयुत विष्णु भट्ट ने किया था और सन् १९०७ में सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इसे लेखक के वंशजों के यहां पड़ा हुआ पाया था । उन्होंने उसे प्रकाशित भी करा दिया । उसकी मूल प्रति पूना के भारत-इतिहास-संशोधक-मंडल में सुरक्षित है । जब विष्णु भट्ट को पूना में यह खबर लगी कि श्रीमती वायजाबाई सिन्धिया मथुरा में सर्वतोमुख यज्ञ कराने वाली हैं तो उन्होंने मथुरा आने का निश्चय किया । पिताजी से आज्ञा मांगी तो उन्होंने उत्तर दिया—'उधर अपने लोग बहुत कम हैं । मार्ग कठिन है । लोग भांग और गांजा पीने वाले हैं और मथुरा की स्त्रियां मायावी होती हैं ।'

विष्णु भट्ट को मथुरा की मायावी स्त्रियों से सुरक्षित रखने के लिए उनके चाचा भी साथ हो लिये थे और इन्हीं चाचा-भतीजे का यात्रा-वृत्तान्त आज ९७ वर्ष बाद एक ऐतिहासिक ग्रन्थ बन गया है ।

क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दी के धुरन्धर विद्वान आगे आनेवाली सन्तान के लिए अपनी अनुभूतियों को सुरक्षित रखते । कितने पाठकों को यह मालूम है कि महामना मालवीयजी ने आज से ६०-७० वर्ष पहले कालेज के दिनों में एक प्रहसन लिखा था, जिसमें झक्कड़सिंह के रूप में अपना चित्रण किया था ? मालवीयजी की 'अपने सम्बन्ध में' शीर्षक कविता सुन

लीजिए :

'गरे जूही के हैं ग़जरे, पड़ा रंगीं दुपट्टा तन,
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके से मंगाते हैं।
कभी हम वारनिश पहने, कभी पंजाब का जोड़ा,
हमेशा पास डंडा है, ये 'झक्कड़सिंह' गाते हैं।
न ऊधो से हमें लेना, न माधो का हमें देना,
करें पैदा जो, खाते हैं व दुखियों को खिलाते हैं।
नहीं डिप्टी बना चाहें, न चाहें हम तसिल्दारी,
पड़े अलमस्त रहते हैं, युंहीं दिन को बिताते हैं।
न देखें हम तरफ़ उनकी, जो हमसे नेक मुंह फेरें,
जो दिल से हमसे मिलते हैं, झुक उनको देख जाते हैं।
नहीं रहती फिकर हमको कि लावें तीर औ' लकड़ी,
मिले तो हलवे छन जावें, नहीं झूरी उड़ाते हैं।
सुनो यारो जो सुख चाहो, तो पचड़े से गृहस्थी के—
छुटो, फक्कड़पना ले लो, यही हम तो सिखाते हैं।
हमें मत भूलना यारो, बसे हम पास 'मनमोहन,'
हुई है देर जाते हैं, तुम्हारा शुभ मनाते हैं।'

यदि स्व. महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने अपना जीवन-चरित लिख दिया होता, तो हमें दौलतपुर से ३६ मील दूर रायबरेली को आटादाल पीठ पर लादे हुए पैदल जानेवाले उस तपस्वी बालक के और भी वृत्तान्त सुनने को मिलते जो रोटी बनाना नहीं जानता था और जो इसलिए दाल ही में आटे की टिकियां डालकर और पकाकर खा लिया करता था। संसार दुःखमय है और उसमें निरन्तर दुर्घटनायें घटा ही करती हैं। यदि कोई मनुष्य हृदय-वेदना को चित्रित कर दे तो वह बहुत दिनों तक जीवित रह सकती है। कोई बारह सौ वर्ष पहले पो-चुई नामक किसी चीनी कवि ने अपनी तीन वर्ष की स्वर्गीया पुत्री स्वर्णघंटी के विषय में एक कविता लिखी थी, वह अब भी जीवित है।

जब कविवर शंकरजी ने क्वार सुदी ३ संवत् १९८१ को अपनी डायरी में निम्नलिखित पंक्तियां लिखी थीं, उस समय की उनकी हृदय-वेदना का अनुमान करना भी कठिन है। 'महाकाल रुद्र देवाय नमः। हाय आज क्वार सुदी ३ संवत् १९८१ वि. बुधवार को दिन के ११ बजे पर प्यारा ज्येष्ठ पुत्र उमाशंकर मुझ बूढ़े बाप से पहले ही स्वर्ग को चला गया। हाय बेटा! अब मेरी क्या दुर्गति होगी! प्यारा पुत्र पांच मास से बीमार था। बहुतेरा इलाज किया-कराया, कुछ भी लाभ न हुआ। प्यारे पुत्र का रोग बढ़ता ही गया। बहुतेरा समझाया, कुछ फल न मिला। मरने के दिन अच्छा भला बातें कर रहा है। यकायक सांस बढ़ने लगा। चि. हरिशंकर और श्यामलाल ऋषि ने बोलते-बोलते ही अचेत होने पर जमीन पर ले लिया। केवल दो मिनट चुप रहा, दम निकल गया। हाय बेटा, उमाशंकर अब कहां :—

आज उमाशंकर सुत प्यारा ;
हाय हुआ हम सबसे न्यारा ।
हे शंकर कविराज सुख संकट द्वारा छिना ।
निरख दिवाली आज, हाय उमाशंकर बिना ।।

संसार में न जाने कितने अभागे पिताओं पर यह वज्रपात होता है और पुत्र-हीन कितनी दिवालियां उन्हें अपने जीवन में देखनी पड़ती हैं।

जब स्व. पं. पद्मसिंह शर्मा ने महाकवि अकबर के छोटे लड़के हाशम की बेवक्त मौत पर संवेदना का पत्र भेजा था तो उसके जवाब में अकबर साहब ने लिखा था—'अगरचे हवादसे-आलम (सांसारिक विपत्तियों की दुर्घटनाएं) पेशे नजर रहते हैं और नसीहत हासिल किया करता हूं; लेकिन हाशम मेरा पूरा कायम मुकाम (प्रतिनिधि, कविता-सम्पत्ति का सच्चा उत्तराधिकारी) तैयार हो रहा था और मेरे तमाम दोस्तों और कद्र अफजाओं से मुहब्बत रखता था। उसकी जुदाई का नेचरल तौर पर बेहद कलक हुआ है।' उस समय अकबर साहब ने एक कविता लिखी थी, जिसका एक पद्य यह है :

'आग़ोश से सिधारा मुझसे यह कहनेवाला,
अब्बा, सुनाइए तो क्या आपने कहा है ।
अशआर हसरत आगीं कहने की ताब किसको,
अब हर नजर है नौहा, हर सांस मरसिया है ।"

कौन अनुमान कर सकता है उस भयंकर हार्दिक वेदना का, जिससे प्रेरित होकर 'अर्द्धकथानक' के सम्पादक बन्धुवर श्री नाथूराम प्रेमी ने ये पंक्तियां लिखी हैं–

'जो अपनी स्वर्गीया जननी के ही समान
निष्कपट और साधु चरित था,
जिसने ज्ञान की विविध शाखाओं का
विशाल अध्ययन और मनन किया था,
जो शीघ्र ही भारती माता के चरणों में
अनेक भेंटें चढ़ाने के मनसूबे बांध रहा था,
परन्तु जिसे दैव ने अकाल में ही उठा लिया,
अपने उसी एकमात्र पुत्र
स्व. हेमचन्द्र को ।'

मेरे अनुज स्व. रामनारायण चतुर्वेदी (एम. ए., अध्यापक आगरा कालेज) की आकस्मिक मृत्यु पर महात्मा गांधी ने सेगांव (वर्धा) से लिखा था–"जिस रास्ते रामनारायण गये, उसी रास्ते हम सबको जाना है। समय का ही फरक है । उसमें शोक क्या ?" निस्सन्देह जिस रास्ते उस चीनी कवि की पुत्री 'स्वर्णघंटी' आज से बारह सौ वर्ष पहले गई थी, उसी रास्ते उमाशंकर जी गये, वहीं महाकवि अकबर का प्यारा पुत्र हाशम गया, उसी धाम को हेमचन्द्र और रामनारायण गये और उसी लोक की यात्रा की कविवर बनारसीदास के नौ बालकों ने । केवल भुक्त-भोगी ही अनुमान कर सकते हैं दुःख के उस स्रोत का, जहां से ये पंक्तियां निकली थीं :

नौ बालक हुए मुए, रहै नारि-नर दोइ ।
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूंठ से होइ ।

'अन्तःकरण का प्रकटीकरण' ('Inside Out') नामक पुस्तक के लेखक ने संसार के ढाई सौ आत्म-चरितों का विश्लेषण करके उक्त पुस्तक लिखी थी और अन्त में इस परिणाम पर पहुंचे थे कि सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरितों के लिए तीन गुण अत्यन्त आवश्यक हैं——(१) वे संक्षिप्त हों, (२) उनमें थोड़े में बहुत बात कही गई हो और (३) वे पक्षपात-रहित हों। 'अर्द्धकथानक' इस कसौटी पर निस्सन्देह खरा उतरता है और यदि इसका अंग्रेजी अनुवाद कभी प्रकाशित हो तो हमें आश्चर्य न होगा। कविवर बनारसीदास जानते थे कि आत्म-चरित लिखते समय वे कैसा असम्भव कार्य हाथ में ले रहे हैं। उन्होंने कहा भी था कि एक जीव की २४ घं`में जितनी भिन्न-भिन्न दशायें होती हैं, उन्हें केवल सर्वज्ञ ही जान सकता है और वह भी ठीक-ठीक तौर पर कह नहीं सकता :

एक जीवकी एक दिन, दसा होइ जेतीक ;
सो कहि न सकै केवली, जानै यद्यपि ठीक।

इसी भाव को मार्क ट्वेन नामक एक अमरीकन लेखक ने इन शब्दों में प्रकट किया था :

"मनुष्य के कार्य और उसके शब्द उसके वास्तविक जीवन के, जो लाखों-करोड़ों भावनाओं द्वारा निर्मित होता है, अत्यल्प अंश हैं। अगर कोई मनुष्य की असली जीवनी लिखनी शुरू करे तो एक-एक दिन के वर्णन के लिए कम-से-कम ८० हजार शब्द तो चाहिए और इस प्रकार साल-भर में ३६५ पोथे तैयार हो जायंगे। छपनेवाले जीवन-चरितों को तो आदमी के कपड़े और बटन ही समझना चाहिए, किसी का सच्चा जीवन-चरित लिखना तो सम्भव नहीं।" फिर भी ६७५ दोहों और चौपाइयों में कविवर बनारसीदास ने अपना चरित्र-चित्रण करने में काफी सफलता प्राप्त की है और उनके इस ग्रन्थ में अद्भुत संजीवनी शक्ति विद्यमान है। उनके साम्प्रदायिक ग्रन्थों से यह कहीं अधिक जीवित रहेगा।

यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि 'आत्मानं विद्धि' (अपने को पहचानो) का उपदेश सहस्रों वर्षों से देते आ रहे हैं, पर यह सबसे अधिक

कठिन कार्य है और उससे भी अधिक कठिन है अपना चरित्र-चित्रण। यदि लेखक अपने दोषों को दबाकर अपनी प्रशंसा करे तो उसपर अपना ढोल पीटने का इलजाम लगाया जा सकता है, और यदि वह खुल्लमखुल्ला अपने दोषों का ही प्रदर्शन करने लगे तो छिद्रान्वेषी समालोचक यह कह सकते हैं कि लेखक बनता है और उसकी आत्म-निन्दा मानो पाठकों के लिए निमन्त्रण है कि वे लेखक की प्रशंसा करें। अपने को तटस्थ रखकर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराज पर बावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है। आत्म-चित्रण वास्तव में 'तरवार की धार पै धावनो है ।' इस कठिन प्रयोग में अनेक बड़े-से-बड़े कलाकार भी फेल हो सकते हैं और छोटे-से-छोटे लेखक और कवि अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते हैं। बहुत सम्भव है कि महाकवि तुलसीदास को जो कविवर बनारसीदास के समकालीन थे, आत्म-चरित लिखने में उतनी सफलता न मिलती, जितनी बनारसीदासजी को मिली। यदि किसी चित्र खिंचवानेवाले को तस्वीर देते समय विशेष रूप से आत्म-चेतना हो जाय तो उसके चेहरे की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। उसी प्रकार आत्म-चरित लेखक का अहंभाव अथवा पाठक क्या खयाल करेंगे, यह भावना उसकी सफलता के लिए घातक हो सकती है।

आत्म-चित्रण में दो ही प्रकार के व्यक्ति विशेष सफलता प्राप्त कर सकते हैं—या तो बच्चों की तरह भोले-भाले आदमी, जो अपनी सरल निरभिमानिता से यथार्थ बातें लिख सकते हैं अथवा कोई फक्कड़, जिन्हें लोकलज्जा से कोई भय नहीं। फक्कड़-शिरोमणि कविवर बनारसीदास ने ३०० वर्ष पहले आत्म-चरित लिखकर हिन्दी के वर्तमान और भावी फक्कड़ों को मानो न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रता-पूर्वक अपने को कीट-पतंगों की श्रेणी में रखा है (हमसे कीट-पतंग की बात चलावे कौन) तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे आत्मचरित-लेखकों में शिरोमणि हैं।

●

निबन्ध-साहित्य

१. **कल्पवृक्ष (वासुदेव शरण अग्रवाल)** २)

प्राचीन भारतीय संस्कृति का दर्शन कराने वाले निबंध-संग्रह

२. **जीवन-साहित्य (काका सा० कालेलकर)** २)

यह निबंध-संग्रह हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचार-विचारों पर नया प्रकाश डालता है।

३. **लोक-जीवन (काका सा० कालेलकर)** ३॥)

ग्राम सेवकों के लिए धार्मिक एवं सांस्कृतिक भित्ति पर विचारपूर्ण तथा आचरण-योग्य ग्रंथ।

४. **अशोक के फूल (हजारी प्रसाद द्विवेदी)** ३)

लेखक के साहित्यिक, सांस्कृतिक और शिक्षा-संबंधी निबंधों का संग्रह।

५. **पृथिवी-पुत्र (डा० वासुदेव शरण अग्रवाल)** ३)

से पढ़कर पाठकों को अपने आसपास की भूमि और उस पर बसने वाले जन को गहराई से समझने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

६. **पंचदशी (संपादक—यशपाल जैन)** १॥)

उच्च कोटि के विद्वानों, चिंतकों एवं साहित्यकारों के चुने हुए १५ निबंधों का संग्रह।

७. **रूप और स्वरूप (घनश्यामदास बिड़ला)** ॥=)

विद्वान लेखक के चार विवेचनात्मक निबंध।

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली